सामयिक साहित्य-माला । छठा पुष्प । सम्पादक श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

ज्वार-भाटा

लेखक —

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

प्रकाशक —

सामयिक साहित्य-सदन (रजिस्टर्ड),

चेम्बरलेन रोड, लाहौर ।

प्रकाशक —
श्री उमाशंकर त्रिवेदी एम० ए०
व्यवस्थापक—सामयिक साहित्य-सदन,
चेम्बरलेन रोड, लाहौर।

मूल्य २)

प्रथम संस्करण, मार्च १९४४।

मुद्रक
रघुनाथ सहाय थापर,
वैस्ट एंड प्रैस, लाहौर।

सूची

१ ज्वार-भाट १
२. नगीना १७
३ अशोक का घोड़ा ३३
४ उनका हृदय ५४

५. स्वर्ग-सुख
६. बधाई ...
७. कल्याणी .
८. संतरे का छिलका
९. प्रतिघात ...
१०. पागलपन ...
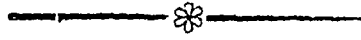
ज्वार-भाटा

बात ऐसी अधिक पुरानी नहीं है। दो वर्ष से कम ही की बातें हैं। आज तो स्थिति बदल गयी है। जनार्दन ने अपनी एक जीवन-सगिनी बना ली है, किन्तु उस समय स्थिति दूसरी थी। पूर्णिमा अपनी बहिन शारदा के विवाह से लौट रही थी। साथ मे उसका पति विनोद था और गोद मे थी दो वर्ष की शशि। गाँव से वह बैलगाड़ी पर आकर कानपुर-सेन्ट्रल स्टेशन पर गाड़ी के एक डब्बे मे, बैठी हुई थी। विनोद टिकट लेने गया हुआ था। अतः कुछ मिनिटों के लिए, उसे अपने डब्बे मे, अकेला रहना पड़ा था। यों प्लेटफार्म पर और उस के पास के डब्बों मे काफी भीड़ थी। उसी समय मालूम नहीं कहाँ से आगया जनार्दन। दुर्बल शरीर, गौर-वर्ण, सिर पर बहुत साफ़ गाँधी टोपी। बदन पर रेशमी खद्दर का कुरता और खद्दर की बारीक धोती और पैरो में मुलायम चप्पल। उसका ध्यान दूसरी ओर था। वह कुछ सैनिकों को देख रही थी, जो बर्मा से लौटे थे और जिनके अंग भग थे। एकाएक उसे किसी के पैरों का मुलायम स्पर्श का भान हुआ। मुड़कर जो देखा, तो अवाक् हो उठी। एक दम से जैसे सकपका गयी। क्षण भर तक तो खुद भी नहीं कह सकी। किन्तु वह तो जनार्दन था न, चुप कैसे रहती। बोली—ओह, तुम हो जनार्दन भैया। लेकिन यहाँ कैसे ?

जनार्दन ने उसके प्रश्न का उत्तर न देकर पूछा—शुक्ल जी कहाँ गये ?

उसने कहा—टिकट लेने गए हैं, अभी-अभी।

वह बोला—इधर अक्सर यो ही चला आता हूँ। सोचा शारदा के ब्याह मे तुम आयी जरूर होगी। और यही एक ट्रेन है, जिससे तुम को इधर जाना होता है।

आज लगातार इसी समय आते पाँचवाँ दिन है।

क्षण भर तक पूर्णिमा चुप रही। जी मे आया स्पष्ट रूप से कह दे,—मैने तुम से कितनी बार प्रार्थना की कि अब मुझे भूल जाओ। समझ लो कि पूनो मर गयी। किन्तु वह कुछ कह न सकी। वह सोचने लगी, उसे इस समय क्या-क्या पूछना चाहिए।

जनार्दन बोला—आज कितने दिनों के बाद तुम्हें देखने का अवसर मिला है। यों चाहता, तो मै भी इस निमन्त्रण मे सम्मिलित हो सकता था। वर पक्ष के लोगों से भी मेरी कम घनिष्ठता नही है। निमन्त्रण भी मिला था। पर मैने सोचा—तुम्हे कष्ट होगा।

पूर्णिमा बोली—अच्छा किया जो नही आये। यहाँ—भी .... ।"

कहते-कहते रूमाल से उसने अपना मुँह ढक लिया।

जनार्दन बोला—क्या करूँ पूनो। क्या मैं इतना भी नही समझता कि तुमसे मिलना-जुलना अब तुम्हारे लिए कितना भयावह है। किन्तु जी नहीं मानता। लाख बार जी को समझाता हूँ। किन्तु मुझे इस बात पर विश्वास ही नही होता कि तुम

दूसरे की हो गई हो। कितनी बार इस बात पर हम लोगो की बातें हुई थी। सदा ही तुम ने यही विश्वास दिलाया था कि हम कभी अलग हो नहीं सकते।

भीड़ छट गई थी। प्लेटफार्म पर पान-बीडी, फल-मिठाई और दूध-चाय आदि के सेवक-विक्रेता लोग ही अपनी-अपनी आवाज लगाते और सौदा बेचते देख पडते थे। रेल के यात्री डब्बे से उतर कर इधर-उधर किसी वस्तु को चटपट खरीद कर अपनी जगह पर लौट आने मे व्यस्त थे।

पूर्णिमा किसी प्रकार, प्रकृतिस्थ होकर बोली—तुम विवाह क्यों नहीं कर लेते ? इस तरह कितने दिन चलेगा ?

इसी क्षण विनोद आ गया।

सामने आते ही जनार्दन ने उन्हें नमस्कार किया। बोला—मैं यहाँ एक मित्र को भेजने आया था। मै जा ही रहा था कि देखा, पूनो है। अच्छा हुआ आप के भी दर्शन हो गये। व्याह में ही भेट हुई थी। आपको भला स्मरण क्या होगा।

विनोद ने कहा—स्मरण क्यो नही है। उस समय शायद आप बी० ए० प्रीवियस मे पढ़ रहे थे। नाम भी आप का मुझे याद है। जनार्दन है न ?

जनार्दन आश्चर्य से चकित हो उठा। उसके मुँह से यकायक निकल गया—अच्छा, आपको मेरा स्मरण खूब रहा।

इसी क्षण गाड़ी ने सीटी दी। और तभी तत्काल जनार्दन ने पाँच रुपये का एक नोट शशि को देकर उसे चुमकारते हुए प्यार किया और पूर्णिमा के चरणों की धूल मस्तक से लगा ली।

पूर्णिमा यकायक विस्मय, आनन्द और एक प्रकार के अकल्पित सम्भ्रम से चौंक पड़ी। बोली—"यह न• होगा जनार्दन भैया। नोट लौटा दे शशि, मम्मा को।"

शशि ने एक बार जनार्दन की ओर देखा, एक बार माँ को। विनोद चुपचाप था। पूर्णिमा उस नोट को शशि के हाथ से लेकर उसे वापस देने लगी।

जनार्दन भूल गया वह क्या कह रहा है। वह यह भी भूल गया, वह कहाँ है। उसे यह भी खयाल न रहा कि पूनो अकेली नहीं है उसका पति पास बैठा है। चरण-स्पर्श करते क्षण जब वह तुरन्त चल देने को तत्पर हुआ तो भावावेश मे उसकी आँखे भर आयी। किन्तु जब पूर्णिमा शशि के हाथ से नोट छीन कर उसे वापस करने लगी, तब वह अपने भावों को रोक न सका। उसने कह दिया—'मै ..मैं किसी योग्य नहीं हूँ पूनो। मेरी कोई सामर्थ्य नहीं है। किन्तु, तुम्हीं सोच देखो, क्यों मैं इस तुच्छ भेंट के लिए भी महँगा हूँ। क्या मै इतनी दूर जा पहुँचा हूँ कि शशि को . ।"

बात अधूरी रह गयी और ट्रेन चल दी। जनार्दन ने एक बार फिर पूर्णिमा का चरण-स्पर्श किया। एक बार फिर शशि की चुम्मी ली, एक बार फिर उसने विनोद को नमस्कार किया। और वह प्लेटफार्म पर आगया।

अब ट्रेन मोशन पर थी। क्षण भर बाद उसका डब्बा प्लेटफ़ार्म के छोर को भी पार करने लगा। पूर्णिमा ने खिड़की से जो सिर निकाल कर देखा तो देखा, उसी ओर देखता हुआ जनार्दन अपना रूमाल हाथ से उठाये हिला रहा है।

ट्रेन कानपुर सेन्ट्रल से आगे बढ़ गयी। विनोद कुछ क्षणों तक मौन रहा। उस ने लक्ष्य किया, पूर्णिमा कुछ उदास है। टिकट लेने के लिये जब वह तीसरे दर्जे क टिकट घर की ओर जाने लगा था तब तो वह ऐसी उदास न थी। जनार्दन के आ जाने से ही वह कुछ आत्मगत हो गई है। जनार्दन कौन है और उसका पूर्णिमा के साथ क्या सम्बन्ध है, विनोद इतना जानता है। किन्तु वह कोई ऐसा सम्बन्ध है, जो पूर्णिमा की जीवन-धारा मे एक विक्षेप उपस्थित कर सकता है यह वह नहीं जानता। तभी वह सोचने लगता ह, यह बात क्या है कि पूर्णिमा कुछ बोल नही रही है।

अबोध शशि एक अजनबी के आने से कुछ उलझन मे पड़ गयी थी। अब वह फिर खेलने लगी। वह क्या जाने कि जो आदमी अभी कुछ देर पहले उसे कागज का टुकड़ा दे गया है, वह आया क्यों और कागज का यह टुकड़ा क्यों दे गया, यह सब भी उसके सोचने का विषय नही है। उसकी मौसी ने रबर का एक कुत्ता उसे दिया था, वह उसी के कान पकड़ कर नोच रही है। कभी उसे मुँह मे ले जाकर दाँत से काटती है, कभी उसके कानो को दोनों हाथों से खींचती है।

पूर्णिमा ने उसकी यह हरकत जो देखी, तो बोली– इस तरह तो यह आज ही खतम हो जायगा, शशि। इसको नोचा नहीं जाता। यह खिलौना है।

शशि ने जरा सा हँसते और आगे के दोनों दाँतों को झलकाते हुए कहा—हनौना?

विनोद ने झट उसे पूर्णिमा के पास से उठा लिया, गोद मे भरकर उसकी चुम्मी ली और उसके प्रश्न को दोहरा कर हसी

तरह पूछा —हनौना ? किन्तु इसी क्षण उस ने पूर्णिमा की मुद्रा मे थोडा सा परिवर्तन लक्ष्य किया देखा, वह प्रकृतिस्थ हो गयी है। तब उसे चुहल सूझ पडी। शशि से उसने पूछा—अभी थोड़ी देर पहले कौन आया था, शशि ?

शशि पूर्णिमा की ओर देखने लगी।

विनोद ने फिर पूछा—जो तुझे नोट दे गया था वह कौन था, बता तो।

शशि फिर पूर्णिमा की ओर ताक कर रह गयी। किन्तु वह इस बार स्वतः चुप न रह सकी। बोली—वह क्या जाने, उसे क्या मालूम ? पागल की सी बात करते हो।

विनोद ने पूर्णिमा की बात पर ध्यान नहीं दिया। आप ही वह उसे गुदगुदाकर हँसाता और मुँह के पास मुँह ले जाकर कहता रहा—वह मम्मा था तेरा, मम्मा। -मम्मा था, मम्मा।

पूर्णिमा बोली—ज्यादा न हँसाओ लाओ दो मुझे पेट मे पानी हो जायगा।

विनोद ने कुलकुलाना तो बन्द कर दिया, किन्तु फिर उसके बाएँ गाल को छेड़ छेड़ कर अँगुली से हिला-हिला कर पूछना शुरू किया। कौन था शशि बता तो। —हाँ, बताना तो।

अबकी बार शशि ने हिम्मत की। बोली—मम्।

फिर क्या था पूर्णिमा का रोम-रोम जैसे खिल उठा। विनोद भी प्रसन्नता से कम पुलकित न हुआ। बोला—शाबाश !

पूर्णिमा बोली—लाओ तो इधर। इसी तरह इसको नजर लग जाती है। तुम को क्या ! परेशानी तो मुझे होती है—और उसने विनोद की गोद से उसे ले लिया। शशि को पूर्णिमा की गोद मे देते

हुए विनोद कहने लगा—नज़र-वजर कुछ नहीं, कोई चीज नहीं। तुम लोगो की एक व्यर्थ की भावना-मात्र है।

गोद मे आते ही शशि माँ के स्तन को टटोलने लगी और पूर्णिमा ने उसे साडी के भीतर कर लिया।

विनोद कुछ उस प्रकार का व्यक्ति है, जो शंकाओं को हृदय मे पलने नहीं देता। उनका अकुर देखते ही उन्हे मसल डालता है। आचार-व्यवहार मे स्पष्टता उसे अधिक प्रिय है। बल्कि एक तरह से यह स्पष्टता उसके स्वभाव मे परिणत हो गयी है। अभी थोडी देर पहले न केवल जनार्दन की उपस्थिति मे वरन् उसके बाद भी उसने अनुभव किया था कि पूर्णिमा कुछ अन्यमनस्क हो गयी है। तभी जनार्दन और उसके सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट रूप से जानने के लिये वह आतुर हो उठा। उसने पूछा—यह जनार्दन यहाँ क्या करता है?—

पूर्णिमा ने उत्तर दिया—देश का कार्य करते हैं शायद। नगर कांग्रेस कमिटी के मन्त्री भी हैं। कई बार जेल हो आये हैं। अभी तो छूट कर आये ही हैं।

"घर से निश्चिन्त हैं? जीविका के लिये कुछ करने की ज़रूरत नही है?"

'ज़रूरत क्यों नही है? ज़रूरत तो बहुत है। छोटी बहिन का ब्याह अभी नही हुआ है। घर मे जमीदारी जरूर है, किन्तु उससे इतनी अधिक आमदनी तो है नही कि इन्हे किसी काम मे लगने की जरूरत न हो। मामा जी ने किसी तरह बी० ए० पास करा पाया है। सोचते थे कि लड़का पढ़-लिख कर उन्हें

कुछ अधिक सुख देगा। परन्तु इनके देश के काम में लग जाने से उनकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया है।"

किन्तु सुनता हूँ कि तुम्हारे मामा के तो कोई औलाद नही।'

'पर यह मामी की बड़ी बहिन के पुत्र हैं। तभी इनका अधिक रहना मामी जी के ही यहाँ हुआ है। पढ़ाई मे उन्होंने सहायता भी कम नही दी है।

ब्याह शायद अभी नही हुआ है?'

'कहते है ब्याह करके स्त्री को फाँसी पर चढ़ाना मुझे स्वीकार नही। इनके अच्छे-अच्छे ब्याह लगे, मामाजी ने भी काफी जोर दिया। पर ये अपनी तबियत और विचार के इतने दृढ हैं कि टस-से-मस नही होते।'

'तुम क्यों नहीं समझाती?'

पूर्णिमा जब अपनी प्रकृत अवस्था मे रहती है, उसका मुख खिले गुलाब सा दमकता है। नारी की देह पर जब यौवन का प्रथम ज्वार आता है, तब वह सम्हाले नही सम्हलता। अंग-अंग जैसे गदराये आम सा सुवासित और स्निग्ध होकर उद्दीप्त हो उठता है। पूर्णिमा भी आज इसी स्थिति मे है। इसीलिये विनोद उसकी रूप-माधुरी की ओर निरन्तर एक मोहक दृष्टि से देखा करता है। उसके क्षण-क्षण के भाव-विपर्यय को वह अपलक अपनी चेतना मे भर लेना चाहता है और इसीलिये जब उसने उपर्युक्त प्रश्न किया और उसके फलस्वरूप जब पूर्णिमा का मुख गम्भीर हो उठा, तो उसे आश्चर्य हुआ।

पूर्णिमा की स्थिति दूसरी है। जनार्दन उसके साथ खेला है। सखा के साथ जो एक प्रकार का निष्कपट भाव रहता है, प्रारम्भ मे बिल्कुल वैसा ही निर्मल भाव वह उसके प्रति रखती थी। किन्तु अन्त मे ऐसे दिन भी आये जब दोनों ने अनुभव किया कि वे परस्पर एक ऐसे सम्बन्ध मे गुँथे हुए हैं, जो टूट नही सकता, मिट नहीं सकता। जो पहले हास परिहास मे अपने मिलन के दिन व्यतीत करते थे, वे दो हृदय अब एक दूसरे से मिलने मे भयातुर होने लगे। कोई रोया, किसी ने उपवास किया। अन्त मे वे मिले और मिले एकान्त मे। उन्होंने खुल कर अपना-अपना प्रश्न रखा। वे झगड़े और रोये भी। एक ने दूसरे को सान्त्वना दी। उन्होंने ठण्डी साँस ले-लेकर क्षणिक भावावेग से दूर जाकर स्थिर हो-होकर, सोचा और एक प्रशस्त मार्ग निकालने की चेष्टा की। पूर्णिमा बोली थी—अगर अम्मा राजी न होंगी, तो मैं उनसे स्पष्ट शब्दों मे कह दूँगी कि तब फिर मेरा मरण निश्चित है। और जनार्दन ने प्रतिज्ञा की थी कि तुम अगर अपने व्रत से डिग भी जाओगी तो भी मै आजन्म अविवाहित रहकर मरण-पर्यन्त तुम्हारी प्रतीक्षा करता रहूँगा। और इन प्रतिज्ञाओं के बाद हुआ यह कि माँ ने कहा—ऐसा हो नही सकता, बेटी। हाथ की ये जो लकीरें हैं, मैं इन्हे मेट नहीं सकती। हमारे घर और वश की जो मान-मर्यादा है, उसके विरुद्ध ऐसा हो ही कैसे सकता है? जनार्दन कुलीनता मे हम से छोटा है। फिर भैया ने उसे पुत्र की भाँति मानकर पढाया-लिखाया है। हमारा सारा समाज उसे तुम्हारे भाई के रूप मे देखता है। उस समाज की आँखो मे धूल कैसे डाल सकती हूँ। तूने मरण की बात कही है। वह मरण तेरा अकेला न होकर मेरा भी हो सकता है। किन्तु यह समाज किसी एक व्यक्ति के मरण की हानि

को इतना भी नो नही गिनता, जितना चीटी के मरण को। व्यक्ति की हानि समाज की हानि नही है, बेटी। समाज उस से बहुत ऊपर है। इस के सिवा ऐसा मरण कोई बहुत बड़े महत्व की वस्तु हो, सो बात भी नहीं है। नित्य ही सुनती हूँ, अमुक ने रेल से कटकर जान देदी। अमुक ने अफीम खाली अथवा अमुक फाँसी लगा कर मर गया। पर इस के बाद फिर एक व्यापक शून्य मे सब समा जाता है। लोग कहते हैं—'बड़ी नादानी की। कायर निकला। जीवन से लड़ाई लड़ नही सका। विषमता की आफ़तों को छाती पर न लेकर रण से भाग खडा हुआ।' यही तुम ने सोच रक्खा हो तो तुम जो चाहो करने मे स्वतन्त्र हो। हो सकता है कि मेरी ये बाते तुझे विष से बुझे बाणों सी मर्माहत करती हों, किन्तु ये कितनी सत्य के निकट हैं, एक दिन जब तुम अनुभव करोगी, तभी जानोगी कि माँ ने अत्यन्त कडवी दवा मिलाकर मेरे मानसिक रोग को कैसी साव-धानी के साथ दूर कर दिया था। तब आज की अपनी इस हठ पर तुम्हे हँसी आयेगी। तुम अपनी इस स्थिति पर आप ही लज्जा के भार से अपना यह उन्नत सिर झुका दोगी। अपनी इस समय की नादानी पर तुम पछताओगी और आज की मेरी इस आदेशात्मक कटुता को जीवन का अमर अक्षय वरदान मानकर सुख, सन्तोष और प्रसन्नता से सिहर उठोगी। पूर्णिमा आज वास्तव मे माँ के इस कथन को अपने जीवन मे अक्षरशः चरितार्थ होती देख रही है। जनार्दन के साथ उस के बाल्य जीवन का ही विशेष सम्बन्ध रहा है। जीवन के अत्यन्त कटु और तिक्त व्यवहारों से भरी इस निर्मम दुनिया मे उसने विनोद के द्वारा कही भी कोई कष्ट नही पाया। एक क्षण को भी उसे यह अनुभव करने का अवसर नहो मिला कि उसके जीवन मे कही कोई अभाव भी है। दिनपर दिन उसका यह विश्वास उत्तरो त्तर दृढ़ ही होता गया है कि अपरिपक्क अवस्था के संकल्पों का

जीवन मे कही कोई महत्व नही है। और इसीलिए वह जनार्दन को एक तरह से भूल सी गयी है। इसीलिए उसने अपने आचार-व्यवहार और भावो से यह कभी प्रकट नही होने दिया कि जनार्दन भी कोई एक था, जिसे उस ने अपना समझा था, अथवा जो अब भी उसका वैसा ही अपना बना हुआ है।

किन्तु अपरिचित, अप्रत्याशित और अकस्मात आकर उसी जनार्दन ने, कुछ ही क्षणो मे, उसके रत्नाकर से भरे पूर्ण जीवन को अपने एक ही स्पर्श से इस तरह जो प्रकम्पित कर डाला है, यह क्या है? पूर्णिमा की विचार दृष्टि एकमात्र इसी प्रश्न के समाधान मे लीन है। बार-बार वह सोचती है—मैने तो केवल कहा ही भर था कि अगर तुम मुझे न मिले तो मेरा मरण निश्चित है। मै इसे निभा नही सकी। विपरीत इसके मै यही सोचती हूँ कि मेरा उस अवस्था का वह सब सोचना एक भाव-प्रवणता मात्र थी—अपरिपक्व बुद्धि और चेतनाका केवल एक भावात्मक प्रमाद था। सोचती है यही मेरे लिये आज एक महासत्य है। और अट्ठाइस वर्ष के तरुण तपस्वी का यह अविवाहित जीवन, देश-सेवा के युग-युग बन्दनीय महायज्ञ मे उसका तिल तिलकर जल जलकर यह आहुति-दान ही असत्य और मिथ्या है।

उन्होंने कहा था— तुम चाहे अपने व्रत से विचलित भी हो जाओ, पर मै तो मरण-पर्यन्त तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा ही। सो मेरा विचलित होना मेरी बहुत बडी सफलता है और जनार्दन का यह अविचलित तप-पूर्ण जीवन ही उसकी असफलता। तो वह प्रतिज्ञा जो पूरी नही हो सकी, गौरव माने अपनी अपूर्णता पर! और वह सकल्प जिसने अपने को आचार का रूप देकर अग्नि-परीक्षा मे स्वर्ण की भाँति जाज्वल्यमान कर दिया हो, मिथ्या, तुच्छ और हेय

मानकर दूध में पड़ी मक्खी की भाँति तिरस्कार का भाजन बने। और जिस समय विचारों के इस संघर्ष मे पूर्णिमा स्वयमेव इतनी विकल थी, उसी समय उसके सामने विनोद का यह प्रश्न होता है कि विवाह के लिए तुम जनार्दन को समझाती क्यों नही !

यहाँ पूर्णिमा के दाम्पत्य जीवन की भाव-धारा के अबतक के इतिहास को भी भुलाया नहीं जा सकता। अबतक उस ने स्वामी से जनार्दन और अपने सम्बन्ध की जो कभी चर्चा नही की, उस का यह कारण नही है कि वह अपने इस अतीत को उस से गुप्त रखना चाहती है। कारण अगर कोई हो सकता है, तो वह केवल यह कि अबतक उसे इसकी आवश्यकता ही नही पड़ी। यह भी हो सकता है कि उसने इसे अवाञ्छनीय समझा हो। व्यर्थ मे स्वामी के मन को उद्विग्न करना क्या कोई अच्छी बात है। विशेषकर उस स्वामी को जो अपना सर्वस्व उस पर न्यौछावर करता आ रहा हो! किन्तु अब आज वह क्या करे ? क्या आज भी इसी उद्देश्य को कल्याणकारी मानकर वह इस भेद पर परदा डाल दे। यद्यपि चाहे तो डाल सकती है। साफ़ कह सकती है कि तुम्हारे आने से पूर्व यही चर्चा तो मै उस से कर ही रही थी। किन्तु उस ने सत्य के इस स्थूल रूप के मोह से अपने आप को मुक्त ही रखना अधिक न्यायसङ्गत समझा। परिणाम की बात सोचे बिना अपने इस जीवन-साफल्य के समस्त मोह को एक ही दाँव मे रख कर उस ने कह दिया - मै उन्हें कैसे समझाऊँ, जबकि समझाने की स्थिति मेरी है ही नही। मै तो उन्ही के साथ अपने आपको वरण करने के लिये प्रतिज्ञावद्ध थी।'

फतेहपुर स्टेशन अभी दूर था और गाड़ी छोटे छोटे स्टेशनों को बराबर पार करती चली जा रही थी। विनोद पूर्णिमा की

बात सुनकर उसी तरह चौंक गया, जैसे आग की साधारण चिनगारी बदन मे कही छू जाने से हमारी समस्त चेतना को अपने ऊपर केन्द्रित कर लेती है। वह सोचने लगा —तो यह आत्मदान उस नारी का है, जो एक बार अपने आप को अन्य व्यक्ति को समर्पित कर चुकी है! किन्तु तत्काल वह सोचने लगा—लेकिन उसने कभी अपने जीवन पर तो इसकी छाया पड़ने नहीं दी। उसका समर्पण तो कभी अपूर्ण रहा नहीं। अविश्वास का पात्र तो उसने कभी अपने को बनने नही दिया और उसका यह साहस क्या कम प्रशंसनीय है कि बात उठने पर वह मुँह पर ही साफ़ साफ कह रही है।

उत्तर पा जाने के बाद थोड़ी देर हो गयी थी और विनोद चुपचाप बैठा सोच रहा था। अब उसका ध्यान पूर्णिमा की ओर आकृष्ट हो उठा और उस की दृष्टि उस पर जा पड़ी। शशि उसकी गोद मे ही सो गयी थी और वह स्वयं आलस्य-ग्रस्त जान पड़ती थी।

कल्पना मे पूर्णिमा ने उपस्थित विषय को, जितना चिन्ताजनक समझ रखा था, व्यवहार रूप मे उसने अनुभव किया वैसा वह वास्तव मे है नही, क्योंकि उस समय उसे प्रतीत यही हुआ कि स्वामी पर उसका कोई विशेष प्रभाव पड़ा नही है।

थोड़ी देर बाद फतेहपुर मे गाड़ी खड़ी हो गयी और विनोद डब्बे से उतर कर पानी लेने चल दिया। वह डब्बे से बाहर हुआ ही था कि देखता क्या है, पानी वाले के पास खड़ा हुआ चुल्लू से जो आदमी पानी पी रहा है, वह जनार्दन है। उस समय वह कुछ बोला नहीं, पर ज्यों ही वह पानी पीकर जाने को हुआ कि विनोद ने उसका हाथ थाम लिया। बोला—जाते कहाँ है? आप

से कुछ काम है। पहले पानी ले लूँ, बाद में इतमीनान से कहूँगा। आप को मेरे पास बैठना होगा।

जनार्दन नही जानता था कि वह अकस्मात् इस तरह फँस जायगा। पूर्णिमा से मिलकर वह तो आ ही रहा था। पर मिल गया उसका साथी निर्मलचन्द्र। उसने हाथ पकड़ कर उसे डब्बे के अन्दर कर लिया। इस प्रकार वह विवश होकर इस गाड़ी मे चल रहा है। विनोद को देखकर और फिर इस रूप मे उसका प्रस्ताव सुनकर वह और भी विस्मित किन्तु विचारग्रस्त हो पड़ा। उसने स्पष्ट रूप से कह दिया कि इस ट्रेन से चलने का उसका कतई इरादा नही था। किन्तु अपने मित्र के आग्रह को वह टाल नहीं सका।

जनार्दन उस समय पानी ले रहा था। कैफ़ियत सुनकर उस ने इतना ही कहा . लेकिन मै खुद भी आपको छोड़ नहीं सकता। आप यह सफ़ाई किसको दे रहे हैं।

पूर्णिमा बैठी शशि को थपथपा रही थी। पर उसकी दृष्टि प्लेटफार्म पर थी। थोड़ी देर बाद देखती क्या है कि स्वामी के साथ जो दूसरा व्यक्ति आ रहा है, वह और कोई नही, जनार्दन है। गम्भीर और चिन्तित।

विनोद ने अपने फैले होल्ड का आधा भाग जनार्दन के लिये खाली कर दिया। बोला—बैठिये साहब, आप बेकार इधर-उधर भागे फिरते है। मै अगर ऐसा जानता, तो आप को जाने ही न देता।

जनार्दन को पता नहीं है कि पूर्णिमा ने सारी स्थिति स्वामी के समक्ष स्पष्ट रूप से रख दी है। अतएव वह बोला -किन्तु जैसा कि मैने आपको बतलाया नहीं, पिछले डब्बे मे निर्मलचन्द्र

बैठा हुआ मेरी प्रतीक्षा कर रहा होगा। कम से कम उसको यह तो मालूम होना चाहिये कि मैं....... ।

विनोद हँसने लगा। हँसते हँसते पानदान से पान निकाल कर उसे देते हुए वह बोल उठा—प्रतीक्षा करने दीजिये उनको। हानि क्या है ? प्रतीक्षा करने वाला भी तो आखिर कोई न कोई, कहीं न कहीं होना चाहिये। यदि कोई मेरी प्रतीक्षा करने वाला हो, तो मैं तो उसे इस सुख से कभी वञ्चित ही न करूँ। इनसे पूछ देखिये, कभी इन्होंने मेरी प्रतीक्षा की है ? फिर स्वयं पान खाते खाते मुस्कराते हुए उसने कहा —पूछिये, मैं कहता हूँ—आप पूछते क्यों नहीं हैं ?

तब जनार्दन ने एक बार पूर्णिमा की ओर देखा। देखा, वह प्लेटफ़ार्म की ओर देख रही है और गाडी सीटी दे रही है। तब वह बोला—आप कह क्या रहे हैं, किस से कह रहे हैं, मैं कुछ नहीं समझ पा रहा हूँ।

अब अत्यन्त दृढ होकर विनोद बोला—मैं उससे कह रहा हूँ जो शशि का मामा है और जिस ने देश को अपना जीवन सौंप दिया है। वासना को जिसने पीस कर धूल में मिला रखा है। यहाँ तक कि शारीरक धर्म-पालन पर भी जो विश्वास नहीं करता। जिसका जीवन संकटों से घिरा है, किन्तु जिस के मानस-क्षेत्र को उसकी असफलताओं ने इतना विचलित कर डाला है कि वह या तो अपने को धोखा दे रहा है अथवा अनुकूल पथ के अभाव में इधर उधर भटक रहा है।

गाडी जरा सी पीछे हट रही थी कि उसी क्षण जनार्दन उठकर तपाक से प्लेटफार्म पर आ गया। विनोद चकित-विस्मित उसकी ओर देखता रह गया। हाथ जोडकर उसने कहा—आप लोग

मुझ को क्षमा करेंगे। गाडी और आगे बढ़ने लगी। अब एक अ निर्मलचन्द्र उसे पुकार रहा था, दूसरी ओर विनोद।

पूर्णिमा कह रही थी—अब जाने कब मिलना हो जनार्दन भैया। कभी कभी पत्र तो डाल दिया करो।

जनार्दन ने इस बार कोई उत्तर नहीं दिया। एक बार उसने पूर्णिमा की ओर देखा। वह मन-ही-मन सोचने लगा—' मै कभी मिलूँ या न मिलूँ, कभी पत्र भेजकर तुम को याद करूँ या न करूँ किन्तु तुम जन्म-जन्मान्तर अपने इसी आदर्श पर दृढ़ रहना बहन। मैं कभी कोई शिकायत न करूँगा।"

उसने लक्ष्य किया ··विनोद अब भी खिड़की से सिर निकाले हुए उसे देख रहा था। उस बार विदा के क्षण उसका रूमाल दूर से फहरा रहा था किन्तु इस बार वही रूमाल उसकी भीगी पलकों को सुखाने मे लीन है।

नगीना

प्रवेश

उसकी आँखो मे सदा शरारत भरी रहती। मुसकराते हुए वह उन्हे ऐसे नशीले ढग से नचा देती कि बस, दिल काबूसे बाहर ही नजर आता! नगीना की यही विशेषता थी, और, इसीलिये बाबू लालताप्रसाद घर-द्वार छोडकर उसी के यहाँ पड़े रहते। नगीना के लिये उन्होंने लबे-सडक एक आलीशान मकान बनवा दिया था। यौवन की मदिरा ठहरी; और, फिर जब वह चढ़ाव पर हो, तो कहना ही क्या! रात को राग-रग, दिन को सोना और सैर-सपाटा। "घर से अम्मा ने बुलाया है'—संदेश लेकर आदमी आया है, पर नगीना के दरबार से जवाब मिलता है—'जा कह दे, बाबू अभी सोते है। जब कभी जागेगे तब उन से कह दिया जायगा।" जब कभी मुख्तार साहब ने बुलाया, तो बाबू साहब अपने सिर के बालो को पीछे की ओर फेकते हुए बोलेगे—'लाला जी खुद यहीं क्यो नही चले आते?" गरज यह कि, लालता बाबू का धीरे धीरे घर जाना-आना भी बन्द हो गया था।

पहले नगीना जब कभी लालता बाबू को रोकती, तो कहती—"क्या करोगे वहाँ जाकर, चलो आज जरा सिनेमा देख आवे।"

लालता बाबू न मानते, तो वह खुद रास्ता रोककर खड़ी हो जाती, कहती – 'अच्छा, जाओ, देखें कैसे जाते हो!" और,

साथ-ही साथ नौकर से आने के दरवाजे का ताला बन्द करवा देती। लालता बाबू विवश हो जाते। कहते—'अच्छा चलो। हटाओ चरखा ! कौन जाय !! क्या जाने अम्मा से क्या क्या सुनना पड़े !!!"

पतन

सावन का महीना था। दोनों दीवाने सैर-सपाटे को मोटर पर जा रहे थे। लालता बाबू शहर के निकट ही अपने गाँव मे दाख़िल हो गये। यहाँ भी उनका एक मकान था और उसके पास ही एक बगिया। 'नगीना' यहाँ लालता बाबू के साथ झूला झूलने आयी थी। पहुँचते-पहुँचते शाम हो गयी थी; और, जब शाम हो ही गयी थी, तब रात होते देर ही क्या लगती ! इधर नगीना, जमीन पर परी के रूप मे इठला रही थी उधर आसमान मे बादल-परियों ने भी उपद्रव मचाने की ठान ली थी। एक-दो बूँदें पड़ने लगी थी। नगीना बोली—"आह ! कितनी अच्छी दुनिया है !"

लालता—"तुम्हारी ईनायत से।"

ज़बान कुतरती हुई नगीना बोली—"ऐसा न कहो ! यह सब खुदा की कुदरत है।"

लालता—"उसका तो सब है ही; लेकिन (नगीना की बाँह मे चुटकी काटते हुए) तुम्हारी इस अदा ने भी मेरी दुनिया को क्या कम सरसब्ज़ बनाया है ?"

नगीना का रोम रोम पुलकित हो उठा ! वह बोली—'चलो, हटो; हर वक्त की दिल्लगी मुझे पसन्द नहीं।"

लालता—"अच्छा ! अब इस तरह रुआब दिखलाओगी ?"

नगीना हँसने लगी। फिर बोली—"रुआब नही जनाब, उधर

देखिये. पानी आ रहा है। ये काली-काली घटाएँ उडती हुई कैसी भली मालूम होती हैं!"

लालता— 'लेकिन वैसी भली नहीं, जैसी तुम्हारी यह शोख़ी!"

लालता ने यह कहते हुए फिर उसकी बाँह को छू दिया। नगीना दामिनी की तरह चमक उठी। बोली—"देखो, इस वक्त शैतानी न करो।"

लालता—"अच्छा तो चलो झूला झूलने।"

नगीना—'मै न जाऊँगी।"

लालता—"अब रंगबाजी न दिखाओ। शहर से इसीलिये ले आयी हो, और, अब ऐसा कहती हो! बड़ी दुष्ट हो तुम!"

यौवन वह मदिरा है, जिसका एक घूँट पीकर भी मनुष्य अपने आपको मिटा देता है। यौवन प्रलय की वह आँधी है, जिस पर वह छा गयी, उसे ले डूबी।

नगीना और लालता बाबू झूला झूल रहे थे। नगीना कहती थी—'भई वाह! आप से तो जरा भी पेंग नही बढ़ती! इसे कुछ तो और बढ़ाइये।"

लालता बाबू

महल खडा करने मे देर लगती है, पर उसके गिरने मे जरा भी देर नही लगती। मनुष्य बनने मे वर्ष के-वर्ष कभी छलाँगे भरते, कभी इठलाते और रोते झींकते हुए व्यतीत करने पड़ते हैं, पर वही मनुष्य जब पशु बनता है, तब कितनी तीव्रतम गति से उसका पतन होता है!

लालता बाबू का भी यही हाल हुआ। जहाँ पहले दस-दस आदमी उनके यहाँ काम करते थे, वहाँ अब गिने-चुने दो-चार नौकर रखना कठिन हो रहा था।

मुख्तार साहब ने कई बार उन को समझाने की चेष्टा की, पर वह व्यर्थ गयी। लाचार होकर उन्हे भी घर बैठ रहना पड़ा।

अब भोग-विलास, सुरा-पान, अनियमितता और स्वेच्छाचार ने लालता बाबू के शरीर को एकदम शिथिल बना रखा था। नगीना जब खाने को पूछती, तब खाना खा लेते और पान-इलायची देती, तब उसे भी ग्रहण करके ज़रा-सी देर के लिये प्रसन्न देख पडने लगते।

नगीना प्राय कहा करती—"जब आपकी तबियत इस क़दर ख़राब हो रही है, तब आप अब घर ही पर क्यों नही रहते ?"

लालता बाबू कभी सुनी-अनसुनी कर जाते, कभी कहते—"घर ! अब घर जाकर क्या करूँगा, नगीना ? इसी तरह, किसी दिन, सदा के लिये ही चला जाऊँगा।"

नगीना में और चाहे जो कुछ हो, पर उस मे अभी तक हृदय' नाम की चीज़, किसी तरह, बनी हुई थी। लालता का ऐसा उत्तर उसे एक दम तिलमिला देता। फिर वह कुछ न कहती। कहती भी, तो इस प्रकार, जैसे—"आप तो बड़ी जल्दी नाखुश हो उठते हैं। इन्सान कोई ईंट-पत्थर नही होता। उसके बदन मे 'दिल' नाम की एक चीज़ भी होती है। मै कहती हूँ, अगर आप घर हो आया करेगे, तो और कुछ न होगा आपका दिल तो बहलेगा। बच्चे आकर आपसे लिपट जायँगे, आपके ऊपर चढ़ेंगे, आपके मुँह पर हाथ फेरेगे—कोई कानमे उँगली डालेगा।

कोई मूँछे खींचेगा। उनकी ये हरकते आपके दिल को कितनी तसल्ली देगी।"

लालता बाबू नगीना के इस तरह के उत्तरों से निरुत्तर हो जाते। एक ठंडी साँस खीचते और रह जाते। नीरव हृद्गति प्रकम्पित हो उठती।

लालता के घर मे उनके दो लड़के थे, एक छोटी लड़की। बड़ा लडका सातवे दरजे मे पढ़ता था, वह ११—१२ वर्ष का था। दूसरा जो उससे छोटा था, अभी पाँच वर्ष का था। वह घर पर अपनी अम्मा से अक्षर सीख रहा था। छोटी लड़की अभी दो-ढाई वर्ष की ही थी।

होली का त्योहार था। लालता की गृहणी 'रमा' ने अपने बड़े लडके 'रामप्यारे' को बुला कर कहा—"भैया, अभी तुझे अपने बाबू के पास जाना होगा।"

"क्या कहूँगा उनसे, अम्मा?"

'कहना 'तुम्हें बड़ी अम्मा ने बुलाया है। बहुत जरूरी काम है; बहुत ही जरूरी।"

रामप्यारे ने उत्तर मे कहा —'अच्छा'—और चल दिया। कहाँ किस मकान मे उसके बाबू रहते हैं, यह सब वह जानता था।

थोडी देर मे रामप्यारे नगीना के सामने था।

नगीना ने उसे दूर से ही देख कर कहा—"आ रे 'प्यारे'। सब लोग अच्छी तरह से तो हैं?"

प्यारे बोला—"हाँ, सब अच्छी तरह हैं। बाबू को बडी अम्मा ने बुलाया है। कई दिनों से उन्हे ज्वर आ रहा है।"

"ज्वर आ रहा है!" नगीना ने आश्चर्य के साथ, एकदम गम्भीर होकर, पूछा—'कितने दिनों से आ रहा है?"

"यही ३—४ दिन हुए।"

"और भी कुछ कहती थी, बड़ी अम्मा?"

"और तो कुछ नहीं कहती थीं।"

"अच्छा, आज क्या खाने को बन रहा है घर में? हाँ, तूने तो अभी कुछ खाया न होगा। सबेरे से ही?"

"अभी तक तो कुछ नही बन रहा है। बाबू चलेंगे, तभी बनेगा।"

"अच्छा! क्या अम्मा ने ऐसा कहा है?"

"कहा तो नही है; पर मै कहता हूँ। मैं जब यहाँ चलने लगा था, तब अम्मा की आँखे भरी हुई थीं। ऐसा जान पड़ता था, जैसे वे रोना ही चाहती है। मै अगर कुछ देर और ठहर जाता, तो शायद मेरे सामने ही वे रो पड़ती।"

नगीना ने उसी समय प्यारे के लिये मिठाई मँगवाने का चुपचाप आदेश देकर कहा—"लेकिन वे तो अब मेरे यहाँ नही रहते। करीब करीब एक महीना हुआ, वे चौक मे 'कोकिला' के यहाँ रहने लगे हैं।"

'प्यारे' यह सुनकर एकदम हतप्रभ हो गया! महीनों से उसने अपने बाबू को नहीं देखा था। आज चिर काल के बाद वह उन्हें देखने को उल्लसित हुआ था। वह उनके मिलने की आशा पर अनेक आह्लादमयी कल्पनाओं के चित्र बना रहा था। एकाएक उसका स्वप्न टूट गया। उसने कहा—' तो अब मै वहीं जाऊँगा, चाची।"

नगीना ने कहा—"अच्छा, पहले ज़रा मिठाई तो खाये जा। फिर जाना।"

"ना, मिठाई-विठाई इस समय मैं कुछ नहीं खाऊँगा।"—प्यारे ने कहा।

नगीना बोली—"सो न होगा। बिना मिठाई खिलाये मैं तुझे जाने न दूँगी। तू अब बडा हो गया है। तुझे क्या पता कि, इन्हीं हाथो से अपनी इसी गोद मे मैने तुझे कितना खिलाया है। कुछ ख्याल है, कब से तू मुझे चाची कहता आ रहा है?"

प्यारे चुप रह गया। इस मामले मे वह अब और कुछ बहस नहीं करना चाहता था। तब तक मिठाई भी उसके सामने एक तश्तरी मे आ गयी।

किसी तरह मिठाई के तीन-चार टुकड़े मुँह मे डालकर उसने पानी पिया, रूमाल जेब से निकाल कर मुँह पोंछा और उठ कर 'अच्छा, अब चलता हूँ' कहकर चल दिया। थोड़ी देर मे वह चौक मे खडा था।

प्यारे का गोरा गोरा खूबसूरत मुखड़ा और टोपी की मर्यादा भंग करते हुए छल्लेदार बाल देखकर सभी उसकी ओर एक बार आकृष्ट हो उठते। लेकिन और किसी के पास न जाकर उसने एक तमोली से पूछा—"यहाँ कहीं कोकिला बाई रहती है?"

तमोली ग्यारह-बारह वर्ष के छोकरे के मुँह से 'कोकिला' का नाम सुनकर सशंक हो उठा। बोला—"क्या करोगे उसका पता पूछकर बाबू?"

प्यारे—"एक काम है।"

तमोली—"भला कुछ सुन भी सकता हूँ?"

प्यारे—"नही दादा, वह सब मुझ से कुछ मत पूछो। ..स यही बतला दो उसका घर कौन सा है ?'

तमोली—"बिजली का वह दूसरा खम्भा जो देख पड़ रहा है, उसी के ऊपर रहती है। लेकिन, जरा मेरी बात तो सुने जाओ"।

तब तक रामप्यारे आगे बढ़ गया। ठीक उसी मकान के निकट पहुँच कर नीचे के सुनार से उसने फिर पूछा, "इसी मे ऊपर कोकिला' रहती है न ?"

सुनार ने कहा—"हाँ, कल तक तो थी। आज सवेरे ही बनारस चली गयी है।"

प्यारे—"उसके साथ और कौन-कौन गया है ?"

सुनार ने कहा—'यह सब मै क्या जानूँ बाबू रोज ही अनेक आते-जाते रहते हैं। जानते तो हो, वेश्या का घर ठहरा। इतना ही जानता हूँ, आज से यह मकान किराये के लिये खाली है।"

कोकिला

जब तक लालता बाबू इलाहाबाद मे थे, उन्हे कभी कभी अपने घर की कुछ खबर भी मिल जाती थी। पर अब बनारस आकर वे उस घर को भी भूल रहे थे, जिसकी बदौलत उनकी जीवन-सरिता प्रवाहित होती थी। इलाहाबाद मे उनको कर्ज देने वाले बहुतेरे लोग थे, बनारस मे कौन बैठा था। वादे-पर-वादे करते—अब घर जाकर ले आता हूँ, अब इन्तज़ाम करता हूँ। एक दिन कोकिला ने कहा—"मुझे आज ही दो सौ रुपये चाहिये।"

ला०—"यहाँ रुपये कहाँ से आये ?"

को०—"मैं यह कुछ नही जानती।'

ला०— 'अच्छा, मै इन्तजाम करता हूँ, दो एक दिनों मे रुपये मिल जायँगे।"

को०—"अब मै दो-एक दिन भी ठहर नही सकती। दो-एक दिन टलते टलते तो आज दो महीने हो रहे हैं। आपने क्या वादा किया था, याद है ?"

ला०—"याद क्यों नही है; लेकिन .. "

को०—"लेकिन, तो मैं अब सुनना ही नही चाहती।"

ला०—' तो आज घर जाऊँगा।"

को० —"कब जाइयेगा ?"

ला०—"शाम को।"

को०—शाम को नही. अभी जाइये। अभी गाडी मिल भी जायगी।"

नगीना मे रूप था, छवि थी और, और भी कुछ था। वह ललिता बाबू के साथ हँसती थी उनकी उदासीनता देखकर खुद भी गम्भीर हो जाती थी।

कोकिला मे रूप था, यौवन भी था। लेकिन सबसे अधिक आकर्षण उसकी स्वर-लहरी मे था। जब वह गाने बैठती, तब एक बार हृदय मे हलचल मचा देती।

ललिता बाबू उसके इसी गुण पर रीझे हुए थे। पर उन्होंने उसके दिल को कभी टटोला न था। आज की बातचीत मे उन्होंने उसके हृदय का प्रतिबिम्ब देखा। उन्हे 'नगीना' का ख़याल आ

गया। जीवन के पिछले तीन-चार वर्षों में कभी कोई भी दिन ऐसा न आया था, जब नगीना ने उनसे रुपये पैसे के लिये इस तरह की बातचीत की हो।

कोकिला की इस बातचीत मे उन्होंने वेश्या के यथार्थ रूप को देखा। चट उठ बैठे। अब वे एक क्षण भी ठहरना नही चाहते थे। कपड़े कुछ पहनते और कुछ हाथ मे लेते हुए वे उसके मकान से बाहर आ गये।

दिन भर लालता बाबू बनारस में ही रहे।

रात हुई, नौ बजे, वे धीरे-धीरे टहलते-टहलते दालमंडी पहुँचे। कोकिला के मकान के पास एक शरबत वाले की दूकान मे बैठ गये। आधा गिलास सोडा लिया, उसी मे अपनी जेब से एक शीशी निकाल कर उँडेल ली। धीरे-धीरे उसे पीते जाते थे, साथ ही साथ कोकिला के मकान की ओर भी देखते जाते थे। भरे गिलास को गले के घाट उतार कर वे पहले धीरे-धीरे और फिर झपट कर, कोकिला के कोठे के ज़ीने की ओर बढ़ कर, जल्दी से चढ़ने लगे।

अन्तिम सीढ़ी पर अभी वे चढ़ भी न पाये थे कि, नौकरानी ने आकर उन्हें देखा और कहा—"अच्छा, आप हैं!"

लालता बाबू और भी आगे बढ़ गये—और उसी कमरे मे दाखिल हो गये जहाँ कोकिला गाना गा रही थी। उन्होंने देखा, और भी दो नवीन श्रोता वहाँ उपस्थित हैं।

लालता बाबू को वे दोनो बड़े गौर से देखने लगे। कोकिला ने गाना बन्द करके एक बार उन्हे देखा और मुस्करा दिया।

लेकिन लालता बाबू ठहरे नही, चुपचाप लौटने लगे। अब

कोकिला उठ खड़ी हुई। जब तक वह ज़ीने तक आयी, तब तक लालता बाबू नीचे आ चुके थे। उसने कहा—"क्या बात है, आप ऊपर क्यों नहीं चलते ?"

लालता ने जवाब दिया—"अभी तक इलाहाबाद नही गया था, अब जा रहा हूँ।"

कोकिला ने उनकी ओर गौर से देखा, उनकी आँखों से चिनगारियाँ-सी निकल रही थीं, मुँह लाल हो रहा था। उसने उनका हाथ पकड़ कर कहा—'कल चले जाइयेगा, ऐसी क्या जल्दी है। जान पड़ता है ... अरे सुनिये तो।"

लालता बाबू ने "चल, हरामजादी कुतिया कहीं-की" कह कर एक ऐसा झटका दिया कि, कोकिला फ़र्श पर जा गिरी। नौकरानी, बुढिया उस्ताद जी तथा श्रोता गण जब तक नीचे आवे, तब तक वह इक्के पर बैठ चुके थे।

टूटा हृदय

नगीना ने जब सुना कि, लालता बाबू की माँ का देहान्त हो गया, तब वह और भी अधिक उदास और गम्भीर हो गयी। कई बार उसके जी मे आया कि वह उनके घर जाकर उन लोगो को देख आये, लेकिन बेचारी पतित नारी वहाँ कैसे जाती यों! जब से लालता बाबू उसके यहाँ से गये, तभी से उसे कुछ अच्छा न लगता था। पर आज तो वह एकदम विकल हो पड़ी! उससे खाना न खाया गया। तिछत्ते पर बैठी हुई वह बड़ी देर तक कुछ सोचती रही। अपने जीवन की र त-वेला मे उसने जिन-जिन के साथ रूप-यौवन का सौदा किया था, एकाएक लालता बाबू की प्रेम-ग्रन्थि ने सब के प्रति उसके हृदय मे घृणा और पश्चात्ताप

का नरक-कुण्ड भर दिया था। पर आज एक मास से तो वह नितान्त निराश्रित है, उसके भविष्य की सुनहरी कल्पनाएँ धूल मे मिली जा रही हैं। वह करे तो क्या करे, और जाय तो कहाँ जाय!

नगीना बैठी हुई ऐसा सोच रही थी कि नीचे से एक आदमी ने आकर कहा —' मालकिन ने आज सन्ध्या के समय आपको बुलाया है।"

नगीना ने उत्तर मे कह दिया—' अच्छा मै शाम को आऊँगी।"

ज्यो-त्यों करके संन्ध्या हुई। नगीना 'रमा' के सामने थी।

बड़ी देर तक किसी के मुँह से कुछ न निकला।

अनन्तर 'रमा' ने आँसू भर कर कहा—"अम्मा तो चल बसी!"

नगीना—"हाँ, मुझे कल ही मालूम हो गया था।"

रमा—"उनका नाम रटते रटते, उन्हें देखने के लिये ललचते ललचते, उनके प्राण छूटे! अन्त काल तक यही कहती रहीं—"भैया नही आये।"

नगीना ने कुछ उत्तर नही दिया। वह उत्तर क्या देती! लालता के जीवन को ऐसा बनाया किसने? उसी ने तो! फिर भला वह अपना मुख कैसे खोलती!

रमा बोली—"आपको मैंने जिसलिये तकलीफ़ दी है, वह बात कहना चाहती हूँ; पर कहने की हिम्मत नहीं होती। अगर आप यहाँ न आती, तो फिर मुझे ही आपके यहाँ जाना पड़ता।"

नगीना की आँखो में आँसू छलक आये।

रमा ने कहा—"जब से उनका पता नही है, तब से आपको भी मै बिल्कुल बदली हुई पा रही हूँ। आदमी का मुँह देखकर भला यह भी कोई बात है कि, मै उसके हृदय को पहचान न सकूँ? नही तो.. .....।" नगीना अपना मुँह नीचे की ओर किये हुए टप-टप आँसू गिरा रही थी।

रमा फिर बोली—"भला उनका कही पता लगा?"

नगीना ने आँसू पोछते हुए कहा—"वे काशी चले गये हैं। इधर ८-१० दिन हुए, मेरे यहाँ एक बार आये थे।"

रमा ने पूछा—"किस लिये आये थे?"

नगीना—"कुछ रुपये चाहते थे।"

रमा—"फिर? आपने क्या कहा?"

नगीना—"मैने उनके साथ अच्छा व्यवहार नही किया।"

रमा—"बड़ा अच्छा किया। अगर पहले से ही यह नीति आपने रखी होती, तो कितना अच्छा होता!"

नगीना—"अभी वे फिर मेरे यहाँ आवेगे, मुझे पूरा यक़ीन है, जरूर आवेगे।"

रमा—"वे आवे, चाहे न आवे। आ कर भी वे अब क्या लेगे। इन बच्चों के लिये उन्होंने क्या छोड़ा है? दर-दर भीख माँगना बदा है।"

नगीना एक ठँडी साँस लेकर रह गयी।

रमा—"अम्मा की अन्त्येष्टि क्रिया करने के लिये कम-से-कम पाँच सौ तो अभी चाहिये। मेरे बदन पर गहनों की जगह यही खाल रह गयी है। सो, अब इसको भी तो कोई नही पूछेगा।"

नगीना—"आप इस तरह की बाते न करे।"

रमा—"क्या कुछ झूठ कहती हूँ, बहन? अब यही होने को है। आपको क्या मालूम कि फीस अदा न हो सकने के कारण रामप्यारे का नाम स्कूल से काट दिया गया!"

रमा के मुँह से 'बहन' सम्बोधन सुनकर नगीना का हृदय पानी हो गया। उसने कहा—"अब और ज्यादा मुझे न सुनावे। मुख्तार साहब को कल मेरे यहाँ भेज दे, जरूर। फिर सब ठीक हो जायगा। आप घबरावे नही। ये बच्चे अकेले तुम्हारे ही नही है, मेरे भी तो हैं।"

अगले वर्षों में

चौक का मकान नगीना ने तभी बेच डाला था, और, साथ ही उसने अपने सब गहने भी बेच डाले थे। इस तरह बारह हजार रुपये उसने रामप्यारे के नाम बैंक मे जमा कर दिये। मुख्तार साहब आकर फिर रियासत की देख-भाल करने लगे।

नगीना, लालता बाबू के मकान के पास, एक छोटे-से मकान मे रहने लगी। लालता बाबू के बच्चों की देख-भाल करती, उन्हे खिलाती और उनके साथ खुद भी खेलती। उनकी तोतली बोली, उनका ठुमुक-ठुमुक चलना, उछलना, कूदना और आपस मे लड़ना और रोना, उन्हे मिठाई खिलाकर मनाना, स्कूल

भेजना, प्यार से उनकी चुम्मी लेना और डाट से उन्हे झिडकना और उनका सुधार करना—यही सब काम नगीना किया करती।

बच्चे नगीना के सामने जब कभी रमा के पास जाकर उसे 'अम्मा' कहते, तब रमा कहती, "मै तुम्हारी अम्मा नहीं हूँ, अम्मा तो तुम्हारी वह है, वह।"

बच्चे उछल कर नगीना की गोद मे जा गिरते और नगीना पुलकित हो उठती।

कल 'प्यारे' के ब्याह का दिन था। बारात रामप्यारे को ब्याहने गयी हुई थी। रात को घर मे नवरौरा हो रहा था। उसी समय एक आदमी ने घर मे प्रवेश किया।

नगीना गा रही थी—

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई।"

एकाएक किसी के खाँसने की आवाज हुई। एक स्त्री ने चौंक कर कहा—"यह खाँसा कौन?"

दूसरी ने विस्मित होकर कहा—"कोई है।"

तीसरी ने उपेक्षा के साथ कहा—"कोई नही।"

अब नगीना ने गाया—

"अँसुअन जल सीचि-सींचि प्रेम-वेलि बोई।"

इसी समय किसी स्त्री ने बिगड़कर कहा—"नगीना बहन क्या कहती हो! कोई है जरूर।"

गाना बन्द हो गया। स्त्रियाँ भयभीत होने लगीं।

नगीना ने पास ही टँगी हुई लालटेन लेकर दरवाजे की ओर बढ़ते हुए देखा, बरामदे की चारपाई पर लेटा हुआ एक आदमी फिर खाँसा। नगीना समीप पहुँची। उसने लालटेन के प्रकाश मे देखा, लालता बाबू अपने हाथ की उँगली को अपने दाँतों के नीचे दबाये हुए एक ओर को देख रहे थे। उनका शरीर सूखा हुआ था, दाढ़ी बढ़ी हुई, कपड़े मैले!

नगीना उनके पास ही बैठ गयी। उसके साथ मे आने वाली स्त्रियाँ लौट गयी।

नगीना ने एक ही बार मे सारी बातें पूछने का उपक्रम करते हुए पूछा—"कब आये, कहाँ रहे, यह हालत कैसे हो गयी?"

लालता बाबू के पास कोई शब्द नही थे। आँसुओं की बूँदे उनकी आँखो से निकल निकल कर टप टप गिर रही थीं।

उधर रमा किवाडों की अर्ध ओट मे खड़ी होकर यह सब देख रही थी।

एक रोदन था, एक कोलाहल—आशा-स्वप्नो का, विरह-मिलन का, अवसाद-आह्लाद का!!!

अशोक का घोड़ा

"सोजा—भैया, सोजा ! भैया मेरा राजा बेटा है !"

—"कभी एक राजा भी था अशोक। जब वह भैया की उम्र का था, तो अपने बाबू का कहना तुरन्त मान लेता था। वह घोड़े पर चढता था और जगल मे जाकर शिकार खेलता था।"

अशोक की आँखों पर विस्मय और आह्लाद की छाप है। होंठ उसके खिल रहे हैं, वि हँस रहे हैं। जिज्ञासा उभर-उभर उठती है - 'छिताल ?'

—"हाँ भैया ! अशोक राजा ही नही, राजाओं का भी राजा था। बहादुरी मे अनोखा था वह।"

बालक अशोक पूछना और जानना बहुत कुछ चाहता है। लेकिन पूछता है सारे मर्म को केवल एक शब्द मे—'लाजा ?'

—"हाँ, भैया। वह सब को प्यार करता था। लोग आज भी उसकी याद मे आँसू गिराते हैं।"

अशोक प्यार जानता है और आँसू। बिना बोले उससे रहा नही जाता—'बाबू, प्याल ! औल आँछू बाबू !'

—"हाँ भैया !"

—"मेरा अशोक जब बड़ा होगा, तब हम उसे घोड़ा ले आयँगे। वह उस पर चढ़ेगा, उसके पास बन्दूक होगी और वह शिकार खेलने जाया करेगा।"

बालक की महत्वाकांक्षा जाग उठती है—"बाबू, अमे अबी धोला ला दो। अम छिताल थेलें दे।"

—"लेकिन मेरा अशोक तो अभी बबुआ है, खिलौना है।"

"बाबू अमे थिलौना ला दो। अम थेलें दे।"

—"कल ला देंगे खिलौना, अपने राजा बेटा को। अच्छा अब सोजा। तेरी माँ सो गई है, अब तू भी सोजा।"

"और धोला नही लाओ दे?"

—"घोड़ा भी ला देंगे भैया के लिए। लेकिन अब सो तो जा।"

"भैया मेरा राजा है"—थप्—थप्—थप्।

अशोक आँखे मीच लेता है। किन्तु क्षण भर बाद फिर एकाएक, जैसे चौंक कर, आँखे खोलकर कह उठता है- "बाबू, धोला ला दो अम तो। अभी ला दो बाबू!"

लेकिन उस समय घोड़ा वहाँ कहाँ रक्खा था! तब उसने बात आगे बढ़ा दी—"बड़े होने पर भैया का ब्याह होगा। उसकी दुलहिन आयगी। राजा बेटा की वह रानी होगी।"

"लानी! लानी कैछी ओती ऐ बाबू?"

राकेश, कहने को तो कह गया; लेकिन अब उसे समझाये कैसे? उसकी अन्तर्दृष्टि पर दो चित्र बन गये—रागिणी + रानी। किन्तु फिर वह एक निःश्वास लेकर रह गया—"क्या रागिणी को वह, पूर्ण रूप से, रानी का रूप दे पाया है?"

वह कोई उत्तर न देकर अशोक को थपथपाता ही रहा।

अब अशोक सोने लगा था।

और राकेश ?

टप ! टप ! टप !

× × × ×

बालक अशोक की माँ सो रही हो, सो बात नहीं है । एक फटी पुरानी रजाई ऊपर डाल कर वह केवल लेट भर रही है। अशोक किसी तरह सो जाय, इसी की प्रतीक्षा मे है वह। उसके सो जाने पर वह उठेगी और लाई चना मिट्टी के बर्तन से निकाल कर स्वामी को दे देगी। कुछ पूछेगी वह उनसे नही। रोज रोज पूछने से लाभ क्या है। अगर कही काम मिल गया होता तो आते ही बतला न देते। इतना धैर्य उन में कहाँ है।

लेकिन राकेश नही जानता कि सचमुच रागिणी नहीं सोई है। तभी वह आते ही माँ की बगल मे लेटे लेटे खेलते हुए अशोक को सुलाने की चेष्टा करने लगा था। वह जानता है कि रागिणी आज दिन को भी सो नहीं पाई है। वह यह भी जानता है कि कल रात भर वह सिलाई का काम करती रही है। एक लिहाफ़ उसने सी डाला है। उससे जो पैसे मिले हैं, उनकी सहायता से अशोक के लिए उसने रुईदार आधी बाहों का सलूका बनाया है। इस तरह वह रात-दिन की हारी-थकी है। सबेरे थोड़ी सी खिचडी मात्र बनाई थी। इस समय उसका भी कोई प्रबन्ध नहीं हो सका है। खाना पेट भर न मिलने के कारण अशोक को पिलाने योग्य दूध उसके अब निकलता नहीं है। प्रातःकाल दो पैसे का वह दूध उधार ले आया था। वही उसने अशोक को पिला दिया था।

इसी समय राकेश को ख्याल आ गया, जब वह सहदेव हलवाई की दूकान से दूध ले रहा था, किसी ने कार से जाते हुए

उसकी ओर देखा था। उसने उस समय मुझे क्या समझा होगा ? पैण्ट में चाय और पान के दाग़ पड़े हैं। मैला वह कितना हो गया है। कोट को उलटवाना चाहता था; लेकिन कैसे उलटवाता ! बालो मे तेल नही पड़ा आज चौथा दिन है। और शेव ! उसने सोचा होगा, राकेश की यह रूप-रेखा उचित ही है। वही राकेश जो अभी कल तक विश्व-विद्यालय मे रेखा के अनन्य प्रेमी के रूप मे बदनाम था।

एक निःश्वास लेकर वह रह गया।

दिन थे, जब रेखा ने पहली भेंट मे ही अपनी मुस्कान उसे दी थी।

दिन थे, जब रेखा ने उसकी बग़ल में बैठ कर 'चन्डीदास' फिल्म देखते-देखते धीमे अन्धकार से भरे उस जनाकीर्ण पैलेस मे, उसके कान मे ऐसा कुछ कह दिया था कि राकेश सिहर उठा था। फिर कुछ दिनों बाद दोनों ने हाथ से हाथ मिला कर एक शपथ ली थी। किन्तु फिर अकस्मात् पिता के तीव्र अनुरोध के कारण वह विवश हो गया और रेखा के स्थान पर रागिणी उसके जीवन मे आ गई। रागिणी एक दूर के रिश्ते से आई थी और सुदूर अतीत से वह उसी की थी। उसके साथ बचपन की स्मृतियाँ थी। विवाह का प्रस्ताव हो जाने के बाद कुछ मत-भेद पड गया था और वह सोचने लगा था कि अब वह उसे नही मिलेगी। तभी रेखा की ओर उसकी दृष्टि गई थी।

लेकिन राकेश ने जीवन-संघर्ष से कभी हार नही मानी है। आज भी वह हार मानने को तैयार नही है।—यद्यपि वस्तुस्थिति

यह है कि फीस दाखिल न कर पाने के कारण वह एम० ए० की परीक्षा मे बैठ नहीं सका।

× × × ×

रागिणी उठी और उसने लाई और चना, एक तश्तरी मे लाकर, राकेश के सामने रख दियां। स्वय वह फिर रजाई से अपने को ढकने जा ही रही थी कि राकेश बोला—"तुम यह कर क्या रही हो रागिणी ?"

"क्यों, तुम को क्या कुछ और चाहिये ? लेकिन गुड़ भी अब नही रह गया है। नमक के टुकड़े मैंने रख ही दिये हैं। मिर्चा भी है।"

'लेकिन तुम ?"

"ओह ! मै अब समझी !"—जैसे जान-बूझ कर मुस्कराती रागिणी कानों के इमीटेशन इयररिंग हिलाती हुई बोली—'लेकिन मै तो पहले ही चाब चुकी हूँ ! भूख जोर की लगी थी। ढेर-के-ढेर चाब लिये हैं। ऊपर से दो गिलास पानी भी पी लिया है। अब इतनी गुंजाइश नहीं है कि दो दाने भी और ले सकूँ। तुम बहुत भूखे होगे, सवेरे भी तुमने खिचडी बहुत थोडी खाई थी। अब तुम्ही चबा लो। हॉ-हॉ सच ! ये तो मेरी बातों पर विश्वास भी नही करोगे ?"

राकेश चुपचाप चना और लाई चबाने लगा। उसके जीवन मे आज यह पहला दिन ही नहीं है। महीनो से यही क्रम चल रहा है। विश्व-विद्यालय में पढ़ने के साथ-साथ वह 'दैनिक युगान्तर' के सम्पादकीय विभाग मे काम कर रहा था। पर युद्ध के

कारण जब कागज मिलना दुष्कर हो गया तो पत्र का आकार घटा दिया गया और इस तरह वह बेकार हो गया। शुरू मे थोडा बहुत अनुवाद का काम उसे मिला था; किन्तु अन्त मे वह भी बन्द हो गया। प्रकाशक से जो पारिश्रमिक तय हुआ था, छः मास मे भी वह वसूल नही हो सका। अब ज़मींदारी की आय से माता-पिता का ही निर्वाह हो पाता है। कभी कुछ मिल भी सकता है; लेकिन राकेश ने अभी जीवन से हार जो नही मानी है। क्यो वह वयस्क हो जाने पर उनके आगे हाथ पसारे ?

चार-छः झोंक चने ही अभी वह चबा पाया होगा कि उसका कंठ भर आया ! बोला—'रागिणी तुम सोचती होगी कि मै एक कायर और निकम्मे पुरुष को ब्याही गई हूँ। अगर तुम ऐसा सोचो तो यह बिल्कुल सच होगा। लेकिन इतना तुम जान लो मेरे रागे कि अगर मै ससार की आँखों मे धूल झोंकने-मात्र की इच्छा कर लूँ, तो अब भी सहस्रों रुपये यही बिखर सकते हैं। यही ! इसी क्षण' -वह अब चुप रह गया। एक निःश्वास भी लिया उसने। फिर बोला—'लेकिन नही, मै ऐसा बन नही सकता।'

राकेश इतनी-सी बात कह कर चुप रह गया। पेट भर कर चने चबा कर वह उठा। पानी भी उसने ऊपर से एक गिलास पी लिया। चलते समय बोला—एक काम से जा रहा हूँ। रात को सम्भव है, देर से लौटना हो। मटरू अभी आयगा, थोड़ा-सा दूध लेकर……। उसके आने का ख्याल न रखना।'

× × × ×

रात को नौ बजे होंगे। रेखा के बँगले के बाहर की बत्तियाँ अभी जल रहीं थी। इधर-उधर देखते हुए राकेश ने उस मे प्रवेश

किया। इस समय वह 'क्लीन शेव्ड' था। सिर से लेकर पैर तक वह पश्चिमी वेश-विन्यास से लक-दक था। एक मित्र के यहाँ से वह पोशाक बदल कर गया था; उसी की कार पर बैठ कर। बराण्डे मे अभी उसने पैर रक्खा ही था कि रेखा उसे सामने ही देख पड़ी। देखते ही राकेश को पहचान कर उसने हाथ मिलाया। बोली—'हल्लो डियर राकेश।'

वह कुछ और कहना चाहती थी, पर शब्द नहीं फूट रहे थे। वह अपने हृदय को खोल कर दिखलाना चाहती थी, पर इसके लिए उसकी वाणी मूक हो जाती थी। उसके मन आया कि वह कहे—तुम मुझे भूल गये राकेश। मुझे तुम से ऐसी आशा न थी। वर्ष के वष बीत गये और तुम ने आना तो दूर रहा, एक पत्र तक नहीं भेजा! क्या तुम वही सुमधुर राकेश हो? क्या तुम वही मेरे स्वप्न-लोक के आलोकित शरच्चन्द्र हो? मेरा स्वास्थ्य चला गया। मेरी आशाएँ और मेरा सुख सदा के लिए चला गया और अब तुम विदा के समय मेरे पास आये हो! अब मेरे पास और क्या है, सिवा इसके कि मै एक राख की ढेर हूँ। तुम इसे ले सकते हो। तुम इसे अवश्य ले सकते हो।

किन्तु वह इतना ही कह सकी कि उसकी आँखे भर आयीं।

राकेश जड़ हो गया, पत्थर! वह तो प्रेम पर विश्वास नहीं करता। वह तो उसे एक भावुकता समझता है, प्रकृति की एक कल्पित दुर्बलता।—"तो रेखा क्या है?" "क्या वह भी प्रकृति की एक दुर्बलता है?" "दुर्बल तो है वह।—रात में भी झलकता है कि पीली पड़ गई है। लेकिन मुख की वह मांसल छवि तो ज्यो की त्यो बनी है।—ओह! यह बात है?"

रेखा अपने एकान्त कक्ष मे उसे ले आई है। बात वह अपनी कह चुकी है। माँ, पास ही खड़ी-खड़ी समझा रही हैं—'तू ऐसी उत्तेजित हो गई रेखा और राकेश भैया. तुमने सचमुच हमारे साथ छल किया। कितने वर्षों के बाद तुम्हे यहाँ देख रही हूँ, कुछ ठीक है ? ऐसा ही करना था, तो तुमने इसको अपना प्यार क्यो दिया था ? क्यो इसे तुमने अपना विश्वास अपनी आत्मा का अवलम्ब देने की चेष्टा की थी ? रेखा के बाबू इसी सोच मे चल बसे। अब इसकी बारी है। लेकिन नही, मेरी रेखा, अब तू जिएगी; तुझे जीना है और जीवन का सुख देखना है।'

रेखा की माँ राकेश के सिर पर हाथ फेर रही है। उसकी वाणी काँप रही है, थरथरा रही है। कण्ठ उसका भर आया है। वह भी अब और कुछ कहेगी नही।

रात के दस बज गये। राकेश के लिए खाना लाया गया; लेकिन उसने खाया नही। कहा—"मै खाकर आया हूँ।" रेखा की माँ ने बहुत ज़िद की, तो भी नही खाया उसने। स्वय रेखा ने भी अनुरोध किया, तो भी नहीं। जब से आया वह, उसने एक बात तक नहीं की। वह केवल सुनता भर रहा है। हाँ, आँसू जरूर उसकी आँखों मे आ गये थे।

माँ जाकर अलग लेट रही है। राकेश चुपचाप बैठा है। बाहर पवन सी सी कर डोल रहा है। बँगले के पेडों की पत्तियाँ मर्मर शब्द कर रही हैं। शोफ़र सो गया है और रेखा चुपचाप लेटी है। कमरे मे बिजली की हल्की नीली रोशनी फैली हुई है। राकेश का मन अशोक की ओर लगा है। रागिणी का भी ध्यान उसे साथ ही आ जाता है। कभी-कभी वह सोचता है—अगर वास्तव मे वह भूखी ही रह गई हो तो ·· ···।

उसके चले जाने के बाद, थोड़ी ही देर में मटरू आया है। कहा है उसने—"दूध नहीं मिला।" हलवाई कहता है—"जब तक पिछला हिसाब चुकता न हो जायगा, आगे और सौदा न मिलेगा।"

रागिणी ने कानों के रिंग उतार कर दे दिये हैं। कहा है कि जो कुछ मिले ले आना। मटरू ने एक रुपये के वे रिंग बेच कर चार आने पाये हैं। दो पैसे का दूध लाकर शेष साढ़े तीन आने वह रागिणी को दे गया है।

बच्चा सो रहा है। दिन को दूध नहीं मिल सका था। थोड़े से चने ही उसने भी चबा लिये थे। थोडी-थोड़ी देर बाद मचल जाता था—"अम्मा दुद्धू!" और अब जो दूध आ भी गया है, तो अशोक सो रहा है। रागिणी सोचती है—क्यो न जगा कर उसे दूध पिला दूँ? किन्तु बच्चे की नींद! हाँ, बच्चे की नीद क्या उसकी क्षुधा-पूर्ति से अधिक प्यारी वस्तु है? दूध पीकर वह और भी मीठी नीद से सो सकेगा।

"अशोक-अशोक!" रागिणी उसे जगाने की चेष्टा करती हुई कह रही है—"बबुआ, अरे ओ बबुआ! बेटा, दूध पी ले। फिर सो जाना।"

"ऊँ-ऊँ ऊँ"

"हाँ, बेटा मेरा राजा है। अशोक सम्राट हुआ था। मेरा अशोक भी सम्राट होगा। पी तो ले दूध।"

"दूध!"—आँखे खोलता हुआ अशोक अत्यधिक प्रसन्न होकर इधर-उधर देख रहा है। फिर एक-दो घूँट पी कर—"छम्लात्। अम्मा, छम्लात् कैछा ओता ऐ?"

"बेटा सम्राट राजाओं का भी राजा कहलाता है। बड़े-बड़े राजा भी उसको सलाम करते हैं। नौकर-चाकर, महल-खजाना, फौज, हाथी-घोड़े, मोटरें, जहाज़ और देश सब कुछ उसके पास होते हैं। उसे किसी चीज की कमी नहीं रहती।"

"आती-धोले, बले-बले; इत्ते-बले !" दो घूँट पीकर बतलाते हुए दोनों हाथ फैला रहा है। गुलाबी होंठों से दूध के बूँद मोती से टपक रहे हैं। बड़ी-बडी आँखे फैलाये वह रागिणी को बतला रहा है।

"झट से दूध पी ले बेटा, फिर सो जा। मेरा राजा दूध पी लेता है।"

"यही चाहिए मुझे, और कुछ नहीं"—रागिणी सोचती है—"मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मेरा अशोक अच्छी तरह रहे, बस। बेकार वे इतना दु:खी होते हैं। नौकरी आज नहीं मिलती न सही। हमारे घर खेत हैं। मैं खेती कराऊँगी। संकट में अपना घर ही सब कुछ है। बेकार वे कुछ और सोचते हैं। मैं कल ही उनसे कहूँगी कि चलो, अब हम देहात में चल कर रहें। लेकिन मेरे पास पहनने को दो-चार गहने और साड़ियाँ...... ! गाँव, बस्ती और घर वाले क्या कहेंगे ? जाते समय सौ-पचास रुपये तो होते !"

रागिणी रो पड़ी है। सिसकियाँ उभर रही हैं और साँस जैसे भीतर समा नहीं रही है।

अशोक अब दूध पी चुका है। रागिणी उसे सुला रही है। लेकिन आँखे उसकी अब भी आँसुओं से तर हैं।

"सोजा बेटा, अब सोजा !"

"बाबू धोला ले आयेन्दे छयेले, इत्ता वला। उछके बाल ओंदे, और पूँछ ओदी। अम तलेदे औल छिताल थेलेदे, बन्दूत छे। बाबू तयते थे।"

अशोक बात करते हुए हाथ फैला देता है, होंठ उसके खिल पडते हैं और आँखों मे आह्लाद बोल उठता है। सरल और महत्वाकाक्षा से पूर्ण !

राकेश इस सारे दृश्य को जैसे अपने अन्तर्पट पर देख-देख नितान्त अस्तव्यस्त हो उठता है। उधर रागिणी सोचती है कि काश कि वास्तव मे वह ऐसी समर्थ होती कि उसके लिए घोड़ा आ सकता।

× × × ×

"अब मै चलूँगा रेखा।" हाहाकार से खेलते हुए राकेश बोला—"वे लोग प्रतीक्षा कर रहे होगे।"

राकेश अनायास ही यह बात कह गया है। उसने पहले से कुछ सोचा नही था कि क्या उसे कहना है।

रेखा जानती है कि राकेश उसे इस हालत मे देख कर वास्तव मे दु:खी हुआ है। तभी उसने कुछ कहा नहीं है। लेकिन कहने को उसके पास कुछ होगा नहीं, यह वह नहीं मानती। क्यों उसने भुला दिया उसको ? यह वह सोच सकती है। पुरुष कैसा प्राणी है, इसका अनुभव उसने कर लिया है। किन्तु परिस्थितियाँ मनुष्य से ऊपर हैं, वह जानती है, कभी राकेश ने इस पर विश्वास नही किया है। वह तो सदा यही कहता आया है कि परिस्थितियों

के आगे हार मानना भी मनुष्य की कमजोरी है। परिस्थितियों का चक्र वह स्वय निर्माण करता है। उचित और ग्रहणीय दो मे से एक क्या है इसका निश्चय करने मे जब उससे भूल हो जाती है, तभी वह प्रतिकूल परिस्थिति के भँवर मे जा पड़ता है।

लेकिन इस समय रेखा खोई-खोई सी बैठी है। वह सोच रही है कि राकेश जो आ नहीं सका है, हाल-चाल भी नही दे सका है, उसकी ग्लानि ने उसे इस समय मूक बना डाला है। और यदि उसे वास्तव मे अपने किये पर दु ख है, यदि वह सचमुच अणु-अणु को आज लज्जा मे स्निग्ध, आलुप्त पा रहा है, तो वह क्षम्य है और हमारा ही है। शरीर उसे चाहिए भी नहीं था। लेकिन क्यों नही चाहिए, क्यों नही ? शरीर से परे आत्मा क्या है ? पर वह उसे नही चाहिए था, इस समय यह अगर वह मान भी ले, तो क्या वह रेखा को भी नहीं चाहिए था ? रेखा को भी ?

रेखा के शरीर मे अब इतनी शक्ति नही रह गई है कि वह चिल्ला सके। क्रन्दन का वह जो एक भीमकाय विस्फूर्जन होता है, शरीर और वाणी के कम्पन और आक्रोश से जो चारों ओर फूट पड़ता है, रेखा अब उसकी सीमा से परे जा पहुँची है। तभी काया के लहू को और मांस को वह फूँक-ताप कर बैठी है। आज वह रेखा है केवल क्षार की। कभी जो जीवन की रेखा थी, आज वह मरण की है। कभी जो तरुण उल्लास की थी, आज वह अवसान की है। उस समय जो नवल और नवागत था, आज ध्वस्त हो होकर विगत बन गया है। आज उस में वेग नही है, आँधी नही है, लिपट-लिपट जाने वाली वह बिजली नही है,

झलक झलक उठने वाली वह ज्योति नहीं है। आज तो वह तलवाहिनी प्रशांत शीतल एक रेखा भर है। पता नही किस क्षण निष्पन्न हो जाय।

किन्तु इस राकेश को क्या हो गया है, रेखा सोचती है, घटों से बैठा है और बोलना जैसे भूल-सा गया है। अगर उसे कुछ कहना नहीं है तो वह आया क्यो है ?

रेखा के मन मे अभी यह प्रश्न आया ही था कि राकेश ने कह दिया—"अब मै चलता हूँ रेखा। वे लोग प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

"अच्छा, तो राकेश चला भी जायगा। ठहरेगा नही।" सोचती हुई रेखा के मन मे आया, लेकिन उसने तो उससे यह भी नही पूछा कि आज आ कैसे गये ? ठहरे कहाँ हो और कब तक रहोगे ? बात यह है कि रेखा ने केवल उसको जाना है, कभी यह तक नहीं पूछा कि तुम्हारा घर कहाँ है ? आज भी तो वह नही जानती कि उसका राकेश किस स्थिति मे है, क्या करता है।

लेकिन उसने तो कहा है—"वे लोग प्रतीक्षा कर रहे होंगे।" यहाँ "वे लोग" कौन हैं उसके ? क्या उसकी स्त्री और बच्चे भी हैं ? क्या उसने विवाह भी कर लिया है ? नही तो "वे लोग" कौन हो सकते हैं भला ?

किन्तु लो, रेखा ने पूछ ही दिया—"क्या इस बार माँ को भी साथ लाये हो ? कहाँ ठहराया है उनको ? यहाँ उनको क्यों नही ले आये ?"

भूकम्प जहाँ कल आने को हो, वहाँ अभी आ जाय, राकेश आज परवा नही करेगा, आज संसार मे उसके लिए कोई भी ऐसा

नही रह गया है, जिससे वह डरे। माना कि रेखा ने उसे चाहा था, लेकिन इस चाहने का अर्थ क्या है ? एक दिन उसने जैसे उसे पसन्द कर लिया था, वैसे ही दूसरे को भी पसन्द कर सकती थी। उस दिन राकेश के पास देखने को सब कुछ था, अपने कालेज का, अपने क्लास का वह अग्रणी छात्र था। उसकी वेष-भूषा भी एक रईस की-सी रहती थी। भीतर वह चाहे पोल ही रखता हो; पर देखने मे वह किसी अमीरज़ादे से कम नही जान पड़ता था। आज भी वह जिस रूप मे आया है, वह अतीत के सर्वथा अनुरूप है। किन्तु राकेश आज वास्तव मे जिस स्थिति मे है, क्या रेखा उससे प्रीति रख सकती थी ? माना कि मै आ नही सका हूँ, मिल नहीं सका हूँ, पत्र के नाम पर सचमुच एक चिट तक मैंने नहीं भेजी, उसके पास। इस अर्थ मे मै अपराधी हूँ। किन्तु प्रश्न तो यहाँ यह है कि एक ग़रीब व्यक्ति की एक अमीरजादी के साथ दोस्ती कैसी ? अच्छा, मान लिया कि दोस्ती सम्भव है, हो ही जाय; लेकिन अनेक असमानताओ से विजड़ित होते हुए इन लोगों मे यह प्रेम क्या वस्तु ?

राकेश को आज और भी बातें याद आ रही हैं। यही वह रेखा की माँ है, जिसने मेरे नौकर से यह जान कर कि बाबू की जमीन्दारी तो सिर्फ दो आना भर है, अपने गाँव मे, मुँह सिकोड़ लिया था और कहा था, "लेकिन तुम्हारे बाबू रहते तो इतने ठाठ से हैं कि मेरी रेखा उन्हे ताल्लुकेदार समझती है।" एक बार स्वयं रेखा ने भी कहा था कि फादर से अगर कहूँगी कि दस हजार रुपये दे दीजिए, उससे हिन्दी-लेखकों की सुविधाओं का ध्यान रखने वाली एक पब्लिशिंग कम्पनी चलाई जायगी, तो वे कभी इन्कार न करेगे। लेकिन मेरी इच्छा का ज्ञान रखते हुए भी उसने

कभी अपने इस वचन को चरितार्थ करने की चेष्टा नही की ! मैने अगर कभी भावुकता मे बह कर, प्रमाद या भ्रमवश सदा उस पर जीवन उत्सर्ग करते रहने का उत्साह प्रकट कर दिया, तो वह वचन और व्रत हो गया । उसे समझ लिया गया कि वह प्रेम की प्रतिज्ञा थी और विवाह जो मैने कर लिया, एक निर्धन गृहस्थ की युवती कन्या के साथ और अपना एक ससार बसाने की चेष्टा की, यही एक बहुत बडा अनर्थ हो गया ! तो हम गरीब लोग नैतिक दृष्टि से पतित हो गये और इन अमीर लोगों की नाक तो नैतिक दृष्टि से सदा ऊँची ही रहती है ।

—'कुछ नही है यह सब ! राकेश इस ढोंग को नहीं मानता । जब तक कोई व्यक्ति समाज मे अपना वास्तविक अधिकार नही प्राप्त कर लेता, तब तक उस पर कोई भी नैतिक प्रतिबन्ध नही है । नैतिकता का अनुशासन केवल गरीबो से अपना स्वार्थ साधने भर के लिए है । जो गरीब और गुलाम होता है, उसका अहंकार मर जाता है, उसके हाथ-पैर शृङ्खलाओं से जकड़े रहते हैं, वह खुल कर चल-फिर नही सकते, हँस-रो नही सकते । प्यार करना वह क्या जाने ! सम्पन्नता और स्वतन्त्रता के बिना वह पँगु है, मुर्दा हैं । जिसके पास खाने को रोटी नही है, जिसके शरीर मे स्फूर्ति और मन मे उल्लास नहीं है, उसके पास हृदय भी नही है । कैसा प्यार उसके लिए ? मै पहले रोटी चाहता हूँ, प्रेम नही । प्रेम तो तुम लोगों का ढकोसला और तमाशा है, जिनके कुत्ते मक्खन चुपडा टोस्ट चाभते हैं ! रेखा मर रही है, मर जाय, कोई गरीब डोम उसकी लाश पर से दुशाला पा जायगा तो उससे उसकी बीबी-बच्चो का तन तो कुछ ढक जायगा । दुनियाँ मे सहस्रो आदमी रोज मरते हैं । रेखा के मरने से उस सख्या मे कोई परि-

वर्तन नहीं हो सकता। जीवन को समझने मे अगर किसी ने कोई ग़लती की है तो उसका दुष्परिणाम वह खुद भोगे। किसी दूसरे व्यक्ति पर उसकी कोई जिम्मेदारी नहीं है! रागिणी के पास कुछ नहीं था, उससे हमको अशोक मिला है और मै अपने मे खुश हूँ, पूर्ण हूँ। रेखा के पास सब कुछ था; लेकिन उसने कुछ न देकर केवल एक विकार दिया है, एक भ्रम। राकेश को वह न चाहिए। वह उससे कुछ नही चाहता!

आज राकेश की आँखो में करुणा नही है, दया नहीं है। ये चीजें तो मनुष्य में तभी तक रहती है जब तक वह अपने जीवन मे एक प्रकार का सुख, संतोष देखता है। राकेश अपने को उस स्थिति से परे देख रहा है। आज न्याय के नाम पर उसकी मानवता पिशाच हो जाना चाहती है। नही तो मरण के घाट पर पहुँचती हुई नारी के समक्ष उसका सारा विद्रोह शान्त हो जाता।

अब भी राकेश की आँखे तनी हुई हैं। अब भी वह हाहाकार की लपटों से खेल रहा है। चेस्टर की जेबो मे हाथ डालकर वह खड़ा हो गया और बोला—"मैने विवाह कर लिया है रेखा! मेरे एक बच्चा भी है।"

"सचमुच? अरे वाह!" विस्मय और वेदना, आनन्द और वात्सल्य मे डूबी रेखा बोली—"तुम कहते क्या हो, डियर?"

"अब मैं तुम्हे जाने न दूँगी। कल सवेरे मैं स्वयं तुम्हारे घर चलूँगी और दीदी को देखूँगी। मैं बेबी (बच्चे) को खिलाऊँगी। अब आज की रात यही रह जाओ। चाहो तो सूचित कर दो आदमी भेजकर। ठीक तो है, शोफ़र से कह दो, वह लौट जाय।

राकेश बैठ तो गया फिर कुर्सी पर, परन्तु उसकी आँखे अब की बार नीची हो गईं। उसके विवर्ण हो रहे मुख पर अब एक पराजय की छाया खेलने लगी। वह सोच रहा था—"इस बात को सुन कर रेखा मूर्छित हो जायगी। सम्भव है, समाप्त ही हो जाय। लेकिन उसका मुख इस समय कितना उज्वल है! आनन्द से जैसे पागल हो गई हो!—तो ईर्षा और द्वेष, स्पर्धा और विद्रोह से परे हो कर यह रेखा कुछ और है क्या?

राकेश के मन मे अभी यह मन्थन चल ही रहा था कि रेखा बोली—' मौन क्यो हो रहे? उठो और शोफर से कह दो। वह अब जाय हम लोग कल सवेरे आयँगे। बड़ी दूर भी तो है शहर यहाॅ से? रात अधिक हो गई और जाडा कितना है? जाओ, उठो। अच्छा बैठे रहो। मैं नौकर बुलाती हूॅ।" उसने पुकार की घटी का इलैक्ट्रिक स्विच दबा दिया।

× × × ×

अशोक सो रहा है लेकिन उसके होंठ काॅप रहे हैं; कण्ठ से शब्द फूट रहे हैं और मुख पर आनन्द की रेखाएँ उभर रही हैं।

'अम् धोले पर तलेदे छिताल थेलेंदे, अम् बन्दूत तलाएँ दे छम्लात् बने दे।'

रागिणी के आँखो के आँसू उसके गुलाबी कपोलों पर आ-आकर सूख गये हैं। शरीर उसका ऐठ ऐठ उठता है, रोम रोम काॅप रहा है, मस्तक जल रहा है और हाथ-पैर शिथिल-से होते जान पड़ते है। तो भी वह सोते हुए अशोक का मुख चूम-चूम लेती है। वह उठती है, और द्वार पर खड़ी हो कर देखती है और गिर पडती है, फिर काॅपती हुई उठती है, और किसी को कल्पना मे देख-देख कर गिर-गिर पड़ती है।

अशोक सो रहा है; लेकिन आनन्द से उछल-उछल पड़ता है। धुँधली रोशनी मे रागिणी उसकी ओर ताकती और एकटक देखती रह जाती है।

'धोला लेदे ! बन्दूत छम्लात ! धोला ! ·· धोला ! बन्दूत ! छम्लात !'

रागिणी पास ही पड़ी सिसकियाँ भर रही और तड़प रही है।

रागिणी उठ बैठी है और अशोक के सिर पर हाथ फेर रही है। आँसू टप-टप गिर रहे हैं।

रागिणी की आँखो के पलक मुँदे हुए हैं। उसे नीद आ रही है।

—जिसे सब कुछ कहना चाहिए था, वह अब भी चुप ही है। क्यों ?—रेखा यह जानती है। अग्नि जो उसके हृदय मे धधक रही है, लपटे न उठाकर वह सुमन बिखेरती है।

—"तुमने सोचा होगा, राकेश ! रेखा को तुमसे शिकायत होगी, लेकिन तुमने यह नही सोचा कि वह तुम्हे कितना जानती है। वैभव और सौन्दर्य के दम्भ के आगे राकेश ने कभी हार नहीं मानी, क्या मुझे यह जानना बाकी रह गया था ? क्या मैं इतना भी नही जान पाई थी कि तुम मुझ से कभी विवाह नहीं करोगे ? ऐश्वर्य और विलास के सस्कारों मे पली नारी से विवाह करना कभी तुम्हारे लिए सम्भव नहीं हो सकता। यहाँ तक तो बिल्कुल ठीक रहा, किन्तु मै यह नही जान सकी थी कि तुम मुझे भूल ही जाओगे। कभी मै कल्पना भी नही कर सकती थी कि प्रेम के राज्य मे ग़रीब और अमीर का भेद तुम्हे मुझ से इतनी दूर ले जाकर खड़ा कर देगा कि मै तुम्हे देख भी न पाऊँगी।"

रेखा धीरे धीरे ठहर-ठहर कर कह रही थी। वाक्यों के टुकड़े बनते थे और शब्द केवल कण्ठ, तालू और होठों से न फूट कर आँखों की पुतलियों, पलकों और मुख की रेखाओं से भी अपना आवेग और आलोक बिखेर देते थे। कभी जो कसर रह जाती, तो पूर्ति के लिए थोड़े से आँसू भी रेखा के पास बच रहे थे।

राकेश अब रेखा की इस बात को सुनकर चुप नहीं रह सका। पूर्ववत् दृढ रह कर, स्थिर भङ्गिमा से वह बोला—'तुम्हारा ख्याल गलत है रेखा! ससार को तुम प्रेम का राज्य कहती हो! लेकिन कहाँ है प्रेम? जिनके पास तन ढकने को कपड़ा और पेट भरने को रोटी का टुकड़ा नहीं है किसने दिया है उनको प्रेम? मुझे तो कहीं भी देख नहीं पडता। गुलाम और मरभुखी जिन्दा लाशों मे प्रेम देखने की यह चेष्टा कोरा प्रमाद है रेखा!"

कुछ क्षण क लिए रेखा चुप रह गई। उत्तर वह खोजना चाहती थी, किन्तु उसे मिलता नहीं था। राकेश तब स्वय ही बोल उठा। लेकिन अब की बार वह उठ कर खड़ा हो गया, कुर्सी के पीछे हाथ टेक कर।

—'कहना चाहो तो कह डालो रेखा, कि जो गरीब है और सच्चा है परम पिता का प्रेम उसे प्राप्त है। लेकिन है यह एक अन्ध-विश्वास।' बात कह कर राकेश एकाएक चुप हो गया। चुप तो हो गया, लेकिन भीतर ही भीतर उसके आगे भी कहता गया—प्रमाद और मानसिक दासत्व की शृंखला मे विजडित। इसमे कहीं गति नहीं है, जीवन नहीं है। महानाश की सृष्टि की है इसने। मानव को सदा परमुखापेक्षी और पगु ही देखा और समझा है इस दृष्टि ने। जीवन मे सुकुमार वृत्तियों का विषाद और रुदन ही इसने फैलाया है। जब कि मनुष्य मे विद्रोह भी कुछ है,

विषधर का सा फूत्कार भी वह करता है, दानव बन कर वह परिस्थितियो से ऊपर भी अपने को देखना चाहता है, जीवन ही ने उसका निर्माण नहीं किया, वह स्वय भी जीवन का निर्माता है।'

"तो मैं ही कब कहती हूँ। खैर, जाने दो"—रेखा बोली—' तुमने बहुत अच्छा किया। लो अब तो खुश हो! बुरा अगर कुछ किया, तो इतना कि आज भूल पड़े! क्यो?'

"सचमुच, मै अपने को भुलाने आया हूँ, रेखा।"—राकेश कहते-कहते आप ही द्रवित हो उठा—"लेकिन देखता हूँ भूल नहीं सकता।"

× × × ×

यह प्रभात है। होली का प्रभात।

रेखा पालकी गाड़ी पर बैठी राकेश के साथ जा रही है। साथ मे उसकी माँ भी है।

सडक पर गाड़ी खडी कर दी गई है। एक सँकरी और गन्दी गली के भीतर आगे-आगे राकेश जा रहा है और पीछे-पीछे उसके कन्धे पर हाथ रक्खे—धीरे-धीरे—रेखा। उसकी माँ ने नाक मे रूमाल लगा लिया है। वह कहती जाती है—"यहाँ कहाँ तुम रहे आकर! भला तुमको यहाँ रहना चाहिये था!"

किसी तरह सब लोग घर के अन्दर पहुँचते हैं।

किवाड खुले पड़े हैं। लालटेन अब भी जल रही है; यद्यपि धुएँ से काली पड़ गयी है। कोठरी के फ़र्श मे पुआल बिछा है और रागिणी लेटी हुई है। उसकी साड़ी फटी हुई है और मैली इतनी है कि कीचड़ के वर्णा की हो रही है। रजाई और बिछावन की भी यही गति है।

पिता को देखकर अशोक उसकी टॉगों मे लिपट जाता है और ऊपर उसके मुख की ओर देख कर कहता है—'बाबू, तुम चुप त्यों ओ ?—बोलते त्यों नईं ?'

. . . ,

"बाबू, अम्मा छोती । उथाओ उन्तो । उथाओ बाबू !"

" .. . . "

"बाबू, तुम अमे धोला नई लाये ! बोलो बाबू !"

लेकिन राकेश चुपचाप खडा ऑखे फाड़-फाड़ कर चारों ओर देख रहा है ।

रेखा ने अशोक को गोद मे लेने की चेष्टा करते हुए कहा—"आ जा मेरे राजा बेटा ! मै तेरे लिए घोडा लाई हूँ । खूब बड़ा-सा घोड़ा । और यह एक (दस हजार रुपये का) चेक है ।—यह रहा लिफाफे मे !"

"लेकिन यह बात क्या है ? रागिणी के बदन पर रजाई नही है !"—सभी लोग क्रम-क्रम से एक ओर देखते हुए जैसे अपने आप से पूछ उठते हैं—"मुख उसका तकिये पर खुला हुआ रक्खा है ! वह एक ओर थोडा लटक भी गया है ! उस पर मक्खियॉ भिनक रही हैं । पास ही ढेर-की-ढेर फेनिल राल पड़ी हुई है !"

दूसरे दिन वहॉ छपे हुए रगीन कागज के कुछ टुकड़े मात्र रह जाते हैं । और राकेश, अशोक को कभी छाती से दबाये और कभी कन्धे पर बिठाये; सरपट चाल से एक ओर चला जा रहा है—चला जा रहा है । कौन जाने किधर !

उसका हृदय

दो मित्र आपस मे वार्तालाप करते हुए सडक पर जा रहे थे। एक का नाम था त्रिलोचन। वर्ण श्याम, दुर्बल शरीर, मुख पर दस-पाँच शीतला के चिह्न। कमीज के कालर खूब टाइट और ढीला सफ़ेद पायजामा। बाये हाथ मे घडी, जेब मे दो फाउन्टेन-पेन। बात-चीत मे अधिक भाग उसी का देख पड़ता था।

दूसरे का नाम था गणेश। त्रिलोचन की अपेक्षा कुछ उजला वर्ण, शरीर से भी अधिक समर्थ। गाढ़े का पायजामा, कुरता और उसके ऊपर रेशमी जवाहर जाकेट। धूप तेज नही थी, तो भी धूप का चश्मा अपनी आँखों पर चढ़ाये था। उसकी रिस्टवाच बहुत छोटी सुनहली और कीमती थी। बातचीत के बीच मे वह जब कभी बोलता तो इतना खुल जाता और इतने अशिष्ट शब्दो का प्रयोग करता कि उसके साथी त्रिलोचन को कभी-कभी अपने इधर उधर देखना पडता—इस विचार से कि कहीं किसी रास्ता चलते सम्भ्रान्त व्यक्ति ने सुन तो नही लिया।

त्रिलोचन कह रहा था—"भई, मैं तो सीधी बात जानता हूँ। कोई भी व्यक्ति जो कर्ज देता है, चाहे वह महाजन हो अथवा एक सभ्य नागरिक मित्र, यह सोचकर देता है कि अगर यह रुपया वापस नही भी मिलेगा, तो मेरा काम नहीं रुकेगा। अर्थात् अंतिम स्थिति मे वह छोड़ा भी जा सकता है। यह मानी हुई बात है कि

कर्ज देने वाला व्यक्ति सदा उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक सम्पन्न होता है, जो कर्ज लेता है इसीलिए कर्ज लेने वाला व्यक्ति अधिकारी है कि यदि उसकी परिस्थिति कर्ज अदा करने की नही है, तो वह चाहे तो उसे न भी अदा करे। तुम्हारी आय मेरी अपेक्षा अधिक है। खर्च करने के लिए तुमको रुपये की कमी नही रहती। ऐसी दशा मे यदि मै तुमको रुपये वापस न करूँ, तो तुम्हे इसके लिए मुझे क्षमा कर देना चाहिये।"

गणेश को क्रोध आ गया। वह कहने लगा—"यह तुम्हारी हरामखोरी है समझे ! तुम जैसे बदमाशो को तो कुत्ता...।"

बात काटते हुए त्रिलोचन बोल उठा—"बको मत, बको मत, लोग सुनेगे तो क्या कहेगे।"

इतने मे तमोली की दूकान आ गई। त्रिलोचन ने आगे बढकर कहा—"बाबू साहब को केले का शरबत पिलाओ और पान खिलाओ। और सुनो—'गोल्ड-फ्लेक' सिगरेट है तुम्हारे पास ?"

उसने कहा—"कहाँ बाबू, आजकल तो लड़ाई के मारे ."

"विल्स . ?"

"हाँ, विल्स तो होगा।"

"एक पैकेट देना।"

वह जेब से पर्स निकाल कर उसे खोलने लगा और बोला—"अच्छा, दो ही दे दो।"

गणेश ने देख लिया कि पर्स मे कई नोट हैं। बोल उठा—"इतने रुपये रखते हुए भी यह नहीं होता कि पाँच ही दे दे। अगर

चाहो तो इसी तरह धीरे-धीरे पूरा रुपया अदा होते कितने दिन लगे ?"

तमोली शरबत बना रहा था। त्रिलोचन सिगरेट पीकर धुआँ उडाता हुआ हँस रहा था और गणेश बराबर बडबडा रहा था। कुछ सोच कर त्रिलोचन बोल उठा—"बडबडाना बेकार है। एक तो मैं कभी ऐसे आदमी से रुपया नहीं लेता जिसको वापस किये बिना बराबर बेचैनी का अनुभव होता रहे। दूसरे अगर मैं यह देखूँ कि उसको वास्तव में रुपये की जरूरत है—तो मैं अपने कपड़े बेचकर भी उसकी जरूरत पूरी कर सकता हूँ।" उसके स्वर मे गम्भीरता आ गई थी।

"तुम बकते हो, त्रिलोचन! शब्द तुम्हारे लिए मशीनों के आपस मे रगड़ने की सूचना मात्र हैं, उनका कोई अर्थ नही। अपने शब्दो का जरा भी मूल्य तुमने आँका होता तो आज के दिन तुम कुछ और होते। तुम्हारी ऐसी शोचनीय स्थिति न होती। तुम्हारी वाणी मे बल होता और तब रुपया क्या चीज है, ससार का सारा वैभव तुम्हारे संकेतों की प्रतीक्षा करता।"

गणेश भी अपनी बात कहते-कहते कुछ गम्भीर हो गया था। इसी समय शरबत का गिलास उसके सामने आ गया।

"शब्दो का मूल्य!" कहते हुए त्रिलोचन उपहास की हँसी से किंचित प्रतिरूप हो पड़ा। परन्तु क्षण भर रुक कर फिर कहने लगा—"शब्दों का मूल्य अब मुझे तुम से सीखना पड़ेगा। मुझे पता है कि तुम अपने चचा जान के साथ, सराफ़े की दूकान पर बैठ कर, कितना सच बोलते हो ?"

शरबत पीकर, पान मुँह मे दबाए, गणेश बोला—"मैं

तुम्हारे भले के लिए कह रहा था। मेरा मतलब तुमको किसी प्रकार की चोट पहुँचाना तो हो नहीं सकता रुपये वास्तव मे मैंने यह सोचकर दिये भी नहीं थे कि तुमसे वापस मिलेगे ही। यह तो मैं पहले ही जानता था। खैर, मारो गोली इस मनहूस विषय को। अब यह बतलाओ कि दुर्गा का क्या हुआ ?"

दुर्गा एक नवयुवती है और गणेश के इस प्रश्न के पीछे उसका एक इतिहास छिपा हुआ है। त्रिलोचन आज कल घर मे अकेला पड गया है। उसके परिवार मे उसकी पत्नी दमयन्ती और माँ है। वे गाँव मे हैं। अकेले रहकर खाना पकाने मे जब उसे अधिक कष्ट होने लगा और उसके दैनिक कार्य-क्रम मे व्याघात उपस्थित होता जान पडा, तो एक दिन उसके मन मे आया, क्यो न एक महाराज रख लिया जाय। अपने मित्रों मे उसने इसकी चर्चा की। अन्त मे महाराज तो उसे नहीं मिला, मिल गई एक बुढिया महाराजिन। त्रिलोचन का काम चलने लगा।

एक दिन बुढ़िया अपने साथ एक लड़की को भी ले आई। वह देखने मे सुन्दर, वय मे गदराये आम्र-सी और वेश-भूषा मे अपेक्षाकृत कुछ पढ़ी-लिखी और सभ्य प्रतीत होती थी। देखते ही त्रिलोचन ने पूछा—"यह कौन है तेरे साथ ?"

महाराजिन बोली—"यह मेरी नतिनी है। घर दिखला दिया और आपसे भेट करा दी। अगर कभी जरूरत पड़ी तो आपका काम तो न रुकेगा—दुर्गा नाम है इसका।"

सुनकर त्रिलोचन मौन रह गया और फिर 'हाँ-न' उसने कुछ नहीं कहा।

दोनो बातचीत करते हुए आगे बढ़ रहे थे। गणेश ने ज्यों

ही दुर्गा के सम्बन्ध मे प्रश्न किया, त्यो ही त्रिलोचन कुछ अस्त-व्यस्त हो उठा। फिर उसके मुँह से एकाएक निकला—"वह काम छोड़कर चली गई।"

गणेश ने लक्ष्य किया, त्रिलोचन के स्वर मे यद्यपि जड़ता है, किन्तु उसे ज्ञान पड़ा जैसे उसमे दर्द भरा हुआ है और उसकी वाणी मे नयन और कण्ठ मिलकर उतर रहे है। उसने पूछा—"आखिर क्यों ?"

'कुछ नही, कोई खास कारण नही। एक दिन जैसे वह आ गई थी, वैसे ही एक दिन चली भी गई। पहली बार जैसे बिना बुलाये सयोग से आ गई थी, अन्त मे वैसे ही जाती हुई एक संयोग का निर्माण भी कर गई।"

गणेश की उत्सुकता और बढ़ गई। कुछ क्षण दोनों चुपचाप चलते रहे। सड़क पर सैनिको से भरी लारियाँ जा रही थी। दाईं ओर धूल के बवण्डर उठ रहे थे। बाईं ओर एक पुलिया पडती थी। उसकी ओर लक्ष्य कर त्रिलोचन बोला—"दो मिनट यहाँ ठहर जाओ इन लारियों को निकल जानें दो।"

दोनों उस पुलिया पर बैठ गये। त्रिलोचन बोला—"बुढिया के मर जाने के बाद वह नित्य प्रति आने लगी थी। मै उससे कभी बोलता नही था। उसके मुख की ओर देखने की चेष्टा भी प्रायः कम ही करता था। अगर कभी उसने कोई प्रश्न कर दिया, तो भले ही उत्तर दे दिया। लेकिन यह दशा भला कब तक रह सकती थी ? तुम्हे पता होगा, आज कल मै पान नही खाता हूँ। अगर किसी ने दे दिया, तो सम्भव है, मै खा भी लूँ, पर इच्छापूर्वक मैं कभी पान नही खाता। पर खाना खाने क बाद वः विधिवत तश्तरी

मे पान दे जाया करती थी। एक दिन पान देकर जब वह जाने लगी, तो चलते समय उसने कहा—'आप मुझसे नाराज रहते है।'

आरोप के साथ ही मै ने उसकी ओर देखा, तो उसकी दृष्टि स्थिर न रह सकी। वह नतमुखी हो गई। तब मैने पूछा—'मै तुम्हारा मतलब नही समझा।' वह बोली—'आप क्या नही समझते, यह मै नहीं जानती।' बस, इतना कहकर वह जाने लगी। मैने टोकते हुए कहा—'सुनो दुर्गा, एक बात सुने जाओ।' वह बिना मुस्कराये बोल उठी—'मुझे देर हो रही है। जल्दी कहिये।' मैने कहा—'तुमने कैसे समझा, मै तुमसे नाराज रहता हूँ ?' मेरे प्रश्न पर वह चुप रह गई। अन्त मे बड़े अनुरोध के अनन्तर उसने बतलाया—"आप अकसर बहू जी को ले आने की बात कहा करते है। क्या मेरा बनाया खाना आपको अच्छा नही लगता ?" यह सुनकर मेरा हृदय मचल जरूर उठा था, लेकिन मेरे विवेक का पजा उसके निकट जा पहुँचा। मैने कहा—'तो तुम सोचती हो दुर्गा कि स्त्री केवल खाना पकाकर खिलाने वाली एक मशीन मात्र है ?'

दुर्गा की ऑखे भर आई। वह बोली—"कैसे कहूँ कि आपने मुझे समझने मे गलती की, बाबू! मेरा मतलब यह है कि जब बहू जी आ जायेंगी तब तो आप मुझे इस नौकरी पर रखेगे नही। तब मेरी गुज़र कैसे होगी ? दादी आपसे पहचान करा गई थी, इसी लिए मै आपकी सेवा करने आ गई थी। किसी दूसरे बाबू के यहॉ तो मै जा नही सकती।"

मैने पूछा—"क्यों, किसी दूसरे बाबू के यहॉ खाना पकाने के लिए जाने मे तुमको आपत्ति क्या हो सकती है ?"

उसने कहा—"मैं आपसे बहस तो कर नहीं सकती। इतना जानती हूँ कि सब आदमी एक से नहीं होते।"

मै चुप रह गया। वह आँसू पोछती हुई जाने लगी। तब मैंने भी कह दिया—'तुम चिन्ता न करो दुर्गा, बहू जी के आ जाने पर भी मै तुमको जवाब नही दूँगा।'

कुछ दिन इसी तरह चले। मै अब दो एक बाते उससे करने लगा। कभी उसके बनाए साग की प्रशसा भी कर देता। कभी कहता—'तुम्हारी स्वच्छता पर मै बहुत संतुष्ट हूँ।' वह उत्तर मे कुछ न कह कर मुस्करा देती।

एक दिन की बात है। उस दिन पानी बरस रहा था और भूमि की गर्मी जैसे पहली बार शान्त हो रही थी। वायु मे मिट्टी का सोधापन मिश्रित होकर अभिनव कल्पनाओं की सृष्टि करने लगता था। सिनेमा देखकर मै ज्यो ही घर लौटा, देखता क्या हूँ कि दुर्गा मेरे दरवाज़े पर बैठी है। मैने पूछा—'इस समय कैसे आई, दुर्गा ?'

वह बोली—"मकान-मालिक ने सामान बाहर फेक दिया। कई महीने का किराया चढ़ गया था। आजकल महँगाई के कारण खाना तक तो चलता नही, ऊपरी ख़र्चे कैसे चले। तिस पर मैं एक स्कूल मे पढने भी जाती हूँ।" वह फफक-फफक कर रो पड़ी। फिर बोली—"इतनी रात को अब मै कहाँ जाऊँ !"

मुझे ऐसी दशा मे कहना ही पडा—"ख़ैर, कोई बात नहीं। एक-आध दिन मे कुछ न कुछ प्रबन्ध हो ही जायगा।"

इस प्रकार उस रात को वह मेरे ही घर पर रह गई।

गणेश से रहा नहीं गया। वह पूछ ही बैठा—"लेकिन वह रात तुमने बिताई कैसे ? क्या तुमको नींद आई थी ?"

त्रिलोचन ने बतलाया—"बारह बजे तक तो मै ग्रामोफोन बजाता रहा। दुर्गा फर्श पर चुपचाप बैठी सुनती रही। साढ़े ग्यारह बजे जब एक बार उसने कहा—'अब सो जाइये। नही तो सबेरे आँखे कडुवायँगी।' तो मैंने उत्तर दिया- "मेरी आँखे ऐसी कमजोर नही है, दुर्गा।"

"मेरा उत्तर सुनकर वह चुप रह गई। लेकिन कुछ सोचकर क्षण भर बाद उसने कहा—'आप से तो बात करना तक मुश्किल है।'

"बारह बजे ग्रामोफ़ोन बन्द कर लेटे-लेटे मैं कुछ पढ़ने लगा। कितनी देर तक मै पढता रहा, कितनी बार उठ कर पलँग पर बैठ गया, कितने सिगरेट मैंने सुलगाये और कब-कब मै कमरे मे टहलता रहा, यह सब जैसे दूसरे कमरे मे लेटी हुई वह बराबर ताड़ती रही। दो बजने पर वह एक बार फिर मेरे सामने आ उप-स्थित हुई। उसे देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। मैने पूछा—"तुम सोई नही, दुर्गा?'

वह बोली—हाँ, नही सोई।' फिर थोडी देर रुक कर आप ही बोली—'मेरे लिये तो, ख़ैर एक कारण यह भी है कि यह नई जगह है; लेकिन आपको तो सोना चाहिये था। आपको नीद क्यों नही आती?'

यह दुर्गा का मेरे ऊपर एक आरोप था। वह चाहती थी कि मैं भी क्यों न यह स्वीकार कर लूँ कि दुर्गा मेरे लिए नई चीज है। इसीलिए मुझे नींद नहीं आती।

मै सोचने लगा, 'सचमुच मेरा न सोना क्या मेरी दुर्बलता प्रकट नहीं करता?' मैंने उत्तर दिया—'सोना तो नित्य है, दुर्गा!'

मैं सोचने लगा, मेरे इस उत्तर को पाकर उसको अवसर मिला है कि वह स्पष्टतया कह दे—क्या तुम्हारे लिये दुर्गा अनित्य है ? किन्तु उसने फिर कोई उत्तर नही दिया। देर तक वह मेरे खुले कमरे के द्वार की चौखट पकड़े खड़ी रही और देर तक मै उसकी कमनीय रूप-राशि को एकटक देखता रहा। अन्त मे मैंने ही प्रकाश बुझाते हुये कहा—'अब तुम सोओ दुर्गा ! मै भी सोता हूँ।' वह लौट पड़ी। किन्तु लौटते क्षण मैंने अनुभव किया, जैसे युग युग तक की संचित साँस एक साथ निःसृत हो रही हो। कमरे मे बिलकुल अँधेरा था। एकादशी का चन्द्रमा अस्त हो गया था। झिल्ली के सिवा कही से भी कोई शब्द नही सुनाई पड़ता था। महीनो जिस मकान मे अकेला रहा हूँ, वही मकान उस रात को मेरे लिये मानो एक पहेली बन गया था। कभी उसकी चूड़ियाँ खनक उठती, कभी ऐसा प्रतीत होता, मानो कोई निःश्वास ले रहा है। किन्तु थोड़ी देर के बाद मेरी स्थिति मे परिवर्तन हुआ। मेरी आँखे झपक गई। मुझे नीद आने लगी। सब कुछ मेरे लिये शून्य हो गया। पर यह सब कितनी जल्दी हो गया इसकी चेतना भी धुँधली हो गई। केवल एक अनुभूति कभी-कभी मेरे मन मे उदित हो उठती। वह यह कि मेरा ससार कितना मधुर है। इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु कितनी सुन्दर है और मेरे चारों ओर कितनी सुवास फैली हुई है ! अन्त मे यह मिठास भी एक विचित्र प्रकार की कोमलता मे परिणत होने लगी। मुझे ऐसा जान पड़ा जैसे रेशम के-से कुछ मुलायम लच्छे मेरे केशो को स्पर्श कर रहे हैं और उनके साथ भीनी-भीनी सुगंध के झकोरे मुझे छू-छू जाते हैं। फिर जान पड़ा, किसी की कोमल अँगुलियाँ मेरे सिर के केश गुच्छो के बीच मे आ-आकर उसे सुहला रही हैं। कभी-कभी कानो के पर्दो पर मै स्पष्ट रूप से किसी की साँस का अनुभव

करता हूँ। किन्तु अपनी इस विचित्र स्थिति के मोह को मैं अधिक काल तक उस उपचेतना मे भी सवरण न कर सका। एकाएक मेरी आँख खुल गई। मै उठकर बैठ गया। बैठे अभी एक सेकण्ड ही मुश्किल से बीता होगा कि मैंने देखा, एक छाया मेरे सामने से एक ओर हट गई। सन्देह-निवारण के लिये मेरे मुँह से एकाएक निकल गया—'दुर्गा ?'

छाया स्पष्ट होकर बोल उठी—'हाँ, मै ही हूँ बाबू।'

मैने पूछा -'यहाँ कैसे आई ?'

वह बोली—'कुछ नही, आप यो ही शायद स्वप्न मे कुछ बड़बडा रहे थे, उसी को सुनने आ गई थी। किन्तु आपको इससे क्या, आप सो जाइये।' वह फिर दूसरे कमरे मे चली गई। किन्तु वहाँ पहुँचते ही धम्म से चारपाई पर गिर पडी और रो-रोकर सिसकियाँ भरने लगी।

पहले तो मुझे अपने अनुभव पर सन्देह हुआ परन्तु अपना भ्रम दूर करने के लिये जब मै उस कमरे मे जा पहुँचा, जिसमे उसके सोने का मैने प्रबन्ध किया था, तो मैने प्रत्यक्ष देखा कि मेरा अनुभव काल्पनिक न हो कर सत्य था। मैन पूछा—'आखिर इस अभिनय का क्या मतलब है, दुर्गा ?"

मेरी गम्भीर वाणी को सुनकर वह काँप उठी। और इसका अनुभव मुझे तब हुआ, जब उसके कण्ठ के स्वर मे भी वह कम्पन स्पष्ट झलक पडा।

आँसू पोछकर बडी कठिनाई से अपने को प्रकृत स्थिति मे लाकर उसने कहा—'मुझे आप क्षमा कर दीजिये। मैं कल ही दूसरी जगह चली जाऊँगी। मै यह नही सहन कर सकती कि मेरे

कारण आप रात मे सो भी न सकें, आपको सोते से उठ-उठकर जागना पड़े। मैं . मैं ..

और कहते-कहते वह फिर सिसकने लगी।

अब मेरा स्वप्न भंग हो गया। मैने स्पष्ट अनुभव किया कि जिस प्रकार की मानसिक अस्वस्थता का आरोप मै दुर्गा पर करने जा रहा था, उसका अपराधी स्वतः मै भी कम नही था।

इसके बाद मै चुपचाप आकर अपने पलंग पर लेट रहा। थोडी देर मे सबेरा हो गया और ज्यो ही मै चारपाई से उठा त्यों ही मैने सुना, सदर दरवाज़े को बन्द करते हुए उसने कहा—'मैं जाती हूँ। अपना घर देखियेगा।'

इतना कहकर त्रिलोचन चुप हो गया, जैसे उसे और कुछ कहना ही न हो। पर गणेश के हृदय मे उथल-पुथल-सी मची हुई थी और वह दुर्गा के सम्बन्ध मे कुछ और जानना चाहता था। थोड़ी दूर तक चुपचाप चलने के बाद उसने पूछा—"फिर क्या हुआ?"

"कुछ नही," त्रिलोचन ने कहा—"अब वह मेरे साथ नहीं रहती।"

बस, इससे अधिक त्रिलोचन ने कुछ नही बताया। गणेश के प्रश्नों को इधर उधर करके उसने टाल दिया। ऐसा प्रतीत होता था मानो दुर्गा के सम्बन्ध मे वह और कुछ नहीं बताना चाहता।

कुछ दिन बाद त्रिलोचन और गणेश इसी सड़क पर फिर टहलने के लिए निकले। एकाएक एक गाड़ी धीरे-धीरे सामने से आती देख पडी। उसमे कुछ तरुण महिलाये बैठी हुई थी। गाडी एक विद्यालय की थी। जब वह सामने आई तो उसमे बैठी युवतियों मे से एक, इन दोनों आदमियों को देखकर, दूसरे से

कानाफूसी करने लगी। 'यही हैं त्रिलोचन बाबू!' शब्द स्पष्ट रूप से गणेश ने सुन लिये। साथ ही उसने उस युवती की ओर ध्यान से देखा भी।

गाड़ी जब आगे निकल गई तो गणेश ने पूछा—"तुमने कुछ लक्ष्य किया?"

अन्यमनस्क बनकर त्रिलोचन बोला—"यह तो कानो का धर्म ही ठहरा। ख़ैर, तुम अपना मतलब बतलाओ।"

"यह लडकी तुमको पहचानती है?"

"अच्छा, मान लो पहचानती ही हो तो?"

'कौन है यह?"

"इससे तुम्हे बहस?" उत्तर देते हुये त्रिलोचन का स्निग्ध हास और मृदुल कण्ठ कुछ स्पष्ट झलक उठा।

अन्त मे उस दिन जब गणेश त्रिलोचन से बिदा लेने लगा तो उसने कहा—'मैंने तुमको समझने मे जो गलती की, उसके लिए मुझे क्षमा करो और जब कभी रुपये की जरूरत हो, बराबर मॉग लिया करो। अब तक मै तुमको विवश होकर रुपया देता था, अब अपना गौरव समझ कर दिया करूँगा।'

स्वर्ग-सुख

मातावदल नगर का नामी मिस्त्री था। साइकिल और मोटर-साइकिल दुरुस्त करने के काम मे वह उस्ताद था। इस सम्बन्ध का कोई भी काम उसकी दूकान से वापस न जाने पाता था। अब वह वृद्ध हो चला था। उसके गाल पिचक रहे थे। चेहरे पर झुर्रियाँ साफ झलकने लगी थी। आँखें गड्ढों मे धँसी जा रही थी। बात यह थी कि पिछले दस वर्ष उसने बड़ी मेहनत मे बिताये थे। सड़क के चौराहे के कोने मे, बड़े अच्छे मौके पर उसकी दूकान थी। इसलिए सवेरे से लेकर रात के बारह बजे तक उसके यहाँ ग्राहकों का आना-जाना बराबर लगा रहता था। आमदनी की बात ठहरी। इसी प्रलोभन मे मातावदल की दूकान रात के बारह बजे तक खुली रहती थी।

मातावदल ने अब रुपया भी काफ़ी पैदा कर लिया था। उसकी दूकान पर अब कई छोटे-छोटे लड़के काम करते थे। अब उसको अकसर फ़ुरसत मिलने लगी थी। जब कभी लड़के शैतानी कर बैठते, तो मातावदल किसी को पकड़ कर उसके सिर पर तड़ी रसीद कर देता, किसी के कान मल देता और किसी-किसी को दो-चार खरी-खोटी सुना देता। लड़के थोड़ी देर मे मिल जाते और आपस मे हँसी करने लगते। इन्ही लड़कों मे एक लड़का रघुआ नाम का था। कोई-कोई उसे रग्घू भी कहा करते थे। पर असल मे क्या रघुआ और क्या रग्घू दोनों ही नाम उसके बिगड़े हुए नाम थे। वास्तव मे नाम उसका बड़ा दिव्य था—राघव।

उस लड़के का 'राघव' नाम जैसा दिव्य था और जैसे उसको पुकारने वाले उसे 'रघुआ' कहकर एक हलके प्यार की छाप लगा देते थे, वैसे ही राघव का स्वभाव भी कुछ कम दिव्य न था। वह बड़ा हँसोड़ था, बड़ा दिल्लगीबाज। वह अपने सब साथियों को खूब हँसाया करता था।

मातावदल को अब खाँसी आने लगी थी। जब वह किसी पर बिगड़ने लगता था, तो खाँसी के साथ-साथ उसकी साँस भी उखड़ पड़ती थी। दोपहर को जब वह घर पर खाना खाने न जाता तो किसी-न-किसी लड़के को घर भेजकर खाना मँगा लेता था। एक दिन पानी बरस रहा था। ऐसी झड़ी लगी थी कि किसी लड़के का दूकान से निकल कर सड़क पर आना कठिन हो रहा था। दोपहर हो गई थी। सब लड़के बारी-बारी से, समय निकाल कर, छाता लगाकर, अपने अपने घरों से खाना खा आये थे। अब मातावदल की बारी थी। जिस समय लड़के खाना खाने के लिए गए थे, उस समय तो उतनी जोर से पानी नहीं बरसता था, पर अब तो क्षण को भी पानी का बरसना बन्द नहीं हो रहा था। यह हालत देखकर मातावदल बड़बड़ाने लगा—अब यह पानी भी दम नहीं लेगा। कितनी देर से देख रहा हूँ साला बन्द ही नहीं होने आता है। परांठे तो भीग ही जायँगे, आलू-गोभी का साग भी सत्यानाश हो जायगा! कैसा साला . . . उँह देखो तो, झड़ी लगाये हुए है।

रघुआ ने नीचे मुँह किये हुए, अपने साथियों की ओर एक बार आँखों का चक्कर लगा कर धीरे से कहा—बकरा सनका-सनका। बस, अब . (तब तक एक साथी इस्माइल ने जरा-सा हँस दिया) खाँसना ही चाहता है।

रघुआ यह कह कर चुप हो गया। इस्माइल हँस-हँसा-कर टेढ़ा-तिरछा मुँह बनाने लगा। तिरबेनी से न रहा गया। वह ठट्टा मार कर हँस पड़ा। रघुआ धीरे से कह उठा—लो बच्चू, अब की मरम्मत हुए बिना । वाक्य पूरा भी न हो पाया था कि बुड्ढा बोला—क्या है रे तिरबेनी, बड़ी हँसी छूट रही है। आऊँ क्या? सालों को बीसों मरतबे समझाया, मानते ही नहीं। आज एक-एक को देखूँगा—क्यों हँसता है बे? बोल तो!!

तिरबेनी ने मुँह लटका लिया। वह बोला—कुछ नहीं दादा, यह रघुआ .. देखो देखो, अब तक हँसी लगा रहा है।

बुड्ढा बोला—वह तो चुपचाप टायर लगा रहा है। साला झूठ बोलता है।

इतना कह कर वह उठा और चला तिरबेनी के चपत जमाने। एक-दो-तीन, अरे-अरे—चटापट। देखते-देखते, उसके, पाँच-सात, चपतें बैठ गईं। बुड्ढा कहता गया—ले साले, ले साले, और हँसेगा और हँसेगा!

तिरबेनी कहता गया—नहीं दादा—नहीं दादा। अब नहीं।

लेकिन सच पूछो तो मातावदल बहुत सहती हुईं चपतें, पोले हाथों से, लगाता था। वह खुद यह नहीं चाहता था कि तिरबेनी चपतें सहन न कर सके और रोने लगे। उसे किसी का रोना बहुत बुरा लगता था।

बुड्ढा चपतें लगाकर, लौट कर अपने बिछे हुए तख़्त पर बैठ भी न पाया था कि रघुआ बोल उठा—बड़ा साला फुर्तीला है। रघुआ इतना ही कह पाया था कि बुड्ढे ने मुँह घुमाकर, एक-आध सफ़ेद-सफेद चमकने वाले बालों-वाली भौंहें चढ़ाकर पूछा—क्या है रे, रघुआ?

रघुआ बोला – कुछ नही दादा, एक बुड्ढा मुसवा था, सो चटपट मेरी टोकनी से एक धान की खील उठा कर चट कर गया और मै देखता ही रह गया। बडा साला बदमाश है। ऐसा बड़ा खुर्राट है कि . ।

रघुआ की बात पर इसमाइल और तिरवेनी दोनो के दोनों फिर खिलखिला पड़े। बात यह थी कि रघुआ के पास जो टोकरी रक्खी थी, उसमें अब धान की खीलें गिनती की तीन रह गई थी। और यहाँ किसी चूहे का पता न था।

इसी समय एक ग्राहक आकर तिपाई पर बैठ गया और कहने लगा—मेरी साइकिल का टायर दो जगह कट गया है। उसमे टायर के टुकड़े रख देने की जरूरत है।

बुड्ढे ने जैसे कुछ सुना न हो। वह कह रहा था-देखा आपने, साले सब-के-सब शैतान के बच्चे हैं। आपस मे हँसते हैं, और मुझे बहला देते हैं। अभी-अभी इस छोकरे की खोपड़ी गरम करके लौटा था कि देखो फिर हँसने लगा।

ग्राहक बोला—अजी, जाने भी दीजिए, लड़के ठहरे। लडको का स्वभाव ही ..।

बुड्ढा बिगड कर बोल उठा – जाने क्यो दे, जनाब! यह दूकान है, या कोई चडूखाना।

ग्राहक—बडी जल्दी आपका मिजाज गरम हो जाता है। मैने तो धीरे से आप से कहा और आप इस तरह बिगड़ उठे।

अब बुड्ढा कुछ शांत होकर बोला – बिगड़ने की बात नहीं है, बाबू जी, ये सब-के-सब बड़े शैतान हैं, आप इन्हे नही जानते।

ग्राहक बोला—खैर, होगा। आप भी तो कभी लड़के रहे होंगे। क्या आप बिल्कुल सीधे-सादे—एकदम-बहुत ही अच्छे लड़के रहे होंगे ? मुझे तो यक़ीन नहीं होता। माफ़ कीजिएगा।

अब मातावदल ने भी थोड़ा मुसकरा दिया। वह बोला—खैर, कहिए आपका काम क्या है ? ..और हाँ रे रघुआ, देख पानी कुछ मध्यम हुआ, जा, खाना तो ले आ।

रघुआ ने चट से एक नई साइकिल ली और चल खड़ा हुआ। इस्माइल बोला—बाबू जी, रघुआ नई साइकिल ले गया।

बुड्ढा बोला—देखी बाबू जी आपने उस छोकरे की शैतानी। नई साइकिलें ग्राहकों के लिए ली गई हैं या इन बदमाशों के लिए ?

ग्राहक—आपका कहना भी ठीक है। पर आप इसकी निगरानी क्यों नहीं रखते ?

बुड्ढा—निगरानी ! अब निगरानी—आप ही बतलाइए, जब तक ख़बर पाऊँगा, तब तक वह लेकर चम्पत हो जायगा ! यही तो इनकी बदमाशी है। और मैं आपसे अर्ज क्या कर रहा हूँ।

ग्राहक—अच्छा, अब हमारे फटे टायर के अन्दर टुकड़े तो रखवा दीजिये। कितनी देर से बैठा हूँ।

(२)

मातावदल के घर में उसकी बुढ़िया पत्नी थी और एक कन्या। बच्चे तो उसके कई हुए थे, पर कुछ ही दिनों तक अपनी लीला का आलोक दिखाकर अन्तर्धान हो जाते रहे थे। कन्या

अभी छोटी ही थी। कोई सात वर्ष की होगी। नाम था पार्वती।

पार्वती ही उस बुढिया के अँधेरे घर का प्रकाश थी। जब कभी वह जो चीज चाहती, तब, उसी समय उसके लिए, वही चीज बुढ़िया मँगा देती थी। एक मास्टरनी उसे पढ़ाने को उसके घर पर आती थी। बुढ़िया और बुड्ढे, दोनो का विश्वास था कि लड़कियो के स्कूल मे पार्वती को भी अगर पढ़ने को भेजा जायगा, तो वह पढ़ेगी तो कम, लेकिन शौक-जौक और फिजूल-खर्ची ज्यादा सीख लेगी। इसीलिए पार्वती की शिक्षा उसके घर पर ही होती थी। लेकिन पढने मे उसका जी नही लगता था। वह दिन भर मुहल्ले की लडकियो के साथ खेला करती थी। मास्टरनी आनी तो उसे कभी मालूम होता, आज पार्वती की तबीयत ठीक नही है, उसके सिर मे दर्द है, वह आज नही पढ़ेगी। कभी मालूम होता, आज उसकी गुडिया का ब्याह है, भला आज पढने का क्या काम? इस तरह पार्वती की शिक्षा का कार्य बहुत ही मन्द-गति से चलता था। बडी कठिनता से वह डेढ साल में मामूली नाम लिखना सीख सकी थी।

रघुआ जब मातावदल के लिए खाना लेने आता, तो थोड़ी देर के लिए पार्वती रघुआ के साथ भी हँस-खेल लेती थी। रघुआ पार्वती को परेशान किये बिना न मानता। वह कभी उसके सिर के बालों मे खोसने के लिए गुलाब के फूल ले आता, कभी अँगरेजी खट-मिट्ठी धीरे-धीरे चूसने वाली मिठाई। वह जब मिठाई ले आता, तो पार्वती को दिखा-दिखा कर खाने लगता। पार्वती झपट कर उसके हाथ या जेब से मिठाई छीन लेने की चेष्टा करती। इस तरह जब तक एक-आध बार गुथ कर आपस मे लड न लेते, एक आध बार इधर-से-उधर भाग न लेते और अन्य किसी तरह की

और कोई बात न होती, तो धोखे से चिकोटी काट कर एक दूसरे को हँसा या ऊपरी मन से ऊँ-ऊँ करके रुला न लेते थे, तब तक दो मे से किसी को संतोष न होता था। शिकायतें कभी बुढ़िया के पास पहुँचती और कभी सीधे माताबदल के पास। कभी रघुआ कहता—देखो बाबू जी, दीदी ने मेरी टोपी कीचड़ मे फेंक कर गंदी कर दी है, कभी पार्वती कहती—नहीं दादा, मैने यह कुछ नही किया है। इसी ने मेरी गुड़िया का सिर हिला-हिला कर उखाड़ डाला है। बेचारा माताबदल जब कभी दोनों पक्षों की बात सुनने बैठता और चाहता कि कुछ न-कुछ फ़ैसला कर दिया जाय, तो वह दोनो को अपराधी पाकर हैरान हो उठता और ऊपरले मन से कहने लगता—यह रघुआ बड़ा शैतान हो गया है, क्यों री? अब इसको निकाल दिया जाय। क्यों? पार्वती उस समय मुँह लटका लेती और उसके मुँह से फिर कोई बात सहसा नहीं निकलती थी। माताबदल अपने पोपले मुँह पर मंद-मद हास्य छिटकाता हुआ पार्वती के पीछे पड जाता था। वह यह जानते हुए भी कि पार्वती रघुआ का हटाया जाना पसद न करेगी, बार बार इसी की बातें करने लगता था। लाचार होकर पार्वती को कहना पडता—नही दादा, रघुआ की मै शिकायत थोड़े ही करती हूँ। उसने जब मेरी शिकायत की, तब फिर मुझे भी उसकी शिकायत करनी पडी। नही तो, वैसे मै उससे कुछ ज्यादा नाराज़ तो हूँ नही। माताबदल जब पार्वती का यह उत्तर पाकर कहता—तो रघुआ बड़ा ही अच्छा लड़का है। क्यों न? जाड़ा आ गया है, उसके लिए ऊनी कोट बनवा दिया जाय, क्यो? तो पार्वती उसी समय आकर माताबदल की गोद मे बैठकर कभी उसकी दाढ़ी के बाल सहलाने लगती और कभी उसके कोट के

बटन खोलने लगती थी। मानो यही उसके प्रश्न का उत्तर होता था।

(३)

रघुआ दूकान में ही सोता था। उसके घर-द्वार कोई न था। जब उसने अपनी सुध सँभाली थी, तब उसने अपने आपको गंगा घाट पर भीख माँगते हुए पाया था। मातावदल एक दिन गंगा-स्नान करके ज्योंही लौटने लगा, त्यों ही रघुआ कई लड़कों के साथ उसके पीछे पड़ गया। और लड़के तो अन्य लोगों से कुछ पैसे पा चुके थे, पर उस रघुआ को एक पैसा भी न मिला था। इसीलिए वह बडी दूर तक मातावदल के पीछे-पीछे चला आया। अन्य लड़के लौट गए थे। मातावदल ने अपनी जेब टटोली, तो एक भी पैसा न था। रुपए ही रुपए थे। विवश होकर कहना पड़ा—यहाँ तो पैसे नहीं है। और तू इतनी दूर तक मेरा पीछा करता हुआ चला आ रहा है। इसलिए अब तुझे लौटाऊँगा नही। दूकान पर चल तो तुझे पैसे दूँ। इस तरह रघुआ मातावदल की दूकान तक उसके पीछे पीछे चला आया था।

दूकान पर बक्स से पैसे निकाल कर ज्योंही मातावदल रघुआ को पैसे देने लगा, त्योंही उसके मन मे आया कि उसका हाल-चाल भी पूछ देखूँ। इसलिए पैसे संदूकचे के ऊपर रखकर मातावदल ने पूछा—पैसे लेकर क्या करोगे, बाल ?

रघुआ तब जरा और छोटा था। यही ४-६ वर्ष का रहा होगा। उसके बालों में कड़वा तेल पुता हुआ था। उसपर धूल भी काफी जमी हुई थी। स्वस्थ देह पर एक फटा पुराना चीकट

कुरता था, जिसकी बाहे हाथों को पार कर जाती। यदि वह लौटाई न गई होती। कुरते की लम्बाई पैर की गाँठों को पार कर गई थी। इस कुरते के सिवा उसके बदन पर कोई दूसरा कपड़ा न था। इसलिए कहना होगा, भीतर से वह नगा था।

खीसे बाकर, आगे के बड़े-बड़े दो दाँत दिखलाते हुए, रघुआ बोला—जिबेली खायँगे।

मातावदल की छोटी कन्या पार्वती तब ढाई-तीन वर्ष की रही होगी। वह भी तोतली बोली बोलने लगी थी। इसीलिए 'जिबेली' शब्द के समझने मे मातावदल को ज़रा भी देर न लगी। उसके मन मे आया कि उसे एकदम से उठाकर उसका धूल-धूसरित मुख चूम ले, पर कुछ सोच कर वह स्थिर रहा।

अब मातावदल ने पूछा—तेरी माँ कहाँ है?

रघुआ—माँ-माँ, क्या जाने कहाँ चली गई। दस-बारह दिन से मिली ही नही। सभी जगह तो ढूँढ फिरा।

माता०—तो वह कही चली गई?

रघुआ ने कुछ उत्तर न दिया। उसकी आँखों मे आँसू झलक आये।

मातावदल ने फिर पूछा—और तेरा बाप कहाँ है?

रघुआ ने उत्तर दिया—मैं नही जानता।

मातावदल मन-ही-मन कहने लगा—बेचारा अनाथ है। फिर वह बोला—अच्छा, अब तुम कहाँ जाओगे?

रघुआ—अपने साथियों के पास जाऊँगा, और कहाँ।

माता०—वहाँ जाकर क्या करोगे?

रघुआ—पैसे मागूँगा, जिबेली खाऊँगा और घूमूँगा।

माता०—रात मे कहाँ रहते हो?

रघुआ—अपने साथियो के साथ, जहाँ जी मे आया, वही सो रहा।

माता०—अगर तुम मेरे यहाँ रहो, तो कैसा हो? रोज जलेबी खाने को मिलेगी, कपड़े भी पहनने को मिलेगे। इसके सिवा जो कुछ तू चाहेगा, वह भी दिया जायगा।

रघुआ कुछ सोचने लगा।

मातावदल भी रघुआ के मन का भाव ताड़ने की चेष्टा करने लगा। थोडी देर तक जब रघुआ मौन रहा, तो मातावदल ने फिर पूछा—बोलो, क्या कहते हो?

रघुआ ने कहा—मै तुम्हारे यहाँ नही रहूँगा।

मातावदल—क्यों?

रघुआ फिर चुप था। मातावदल ने कहा—तुम्हे मेरे यहाँ कोई तकलीफ न होगी। यह कह कर उसने अपने यहाँ काम करने वाले एक लडके तिरबेनी से मिठाई और जलेबी मँगा-कर रघुआ को खिलाई।

रघुआ खुशी-खुशी मिठाई खाने लगा। आज उसने पेटभर मिठाई खाई। मिठाई खाने के बाद उसने निकट ही सड़क पर लगे हुए पाइप मे पानी पिया। अब वह बड़ा खुश देख पड़ा।

मातावदल ने कहा—ये लडके दूकान मे काम करते हैं, इन्ही के साथ खेला करना। क्यो, है न तुम्हारा जोड़?

रघुआ खुश होकर, दाँत बाकर उनकी ओर देखने लगा।

इस प्रकार रघुआ मातावदल के यहाँ हँसी-खुशी से रहने लगा। एक-आध बार जब उसे अपने पुराने साथियों की याद आई। तो वह भाग भी गया। पर उनके साथ रहकर जब वह भूख न सह सका तो फिर लौट आया। जब कभी उसका कोई साथी मिल जाता, तब वह देर तक उससे तरह तरह की बातें करता रहता। कभी-कभी उसकी इच्छा उनके साथ रहने की भी हो आती, पर उस अनिश्चित जीवन के कष्टों को सह सकने योग्य सामर्थ्य उसमे रह न गयी थी। बल्कि ऐसे जीवन से अब वह घृणा भी करने लगा था। इसका एक कारण यह भी था कि किसी से कोई वस्तु माँगते हुए उसकी आत्मा को बहुत क्लेश पहुँचता था।

(४)

पार्वती अब सयानी हो रही थी। उसके मृदुल चचल स्वभाव मे गंभीरता आने लगी थी। दौड कर चलना, रघुआ पर किसी विशेष वस्तु के लिए एकदम से आक्रमण करना साधारण-सी बात पर उससे मान करना या ठट्टा मार कर हँसना धीरे-धीरे कम हो चला था।

लेकिन रघुआ का लड़कपन अभी तक वैसा ही बना था। जब कभी मौज मे आता, ज़रा भी सड़क ख़ाली देखता, तो वह चट साइकिल के हथकडे दिखाने लगता था। कभी साइकिल पर चढ़े-चढ़े उसका अगला पहिया उठा लेता, कभी दो साइकिलें लेकर क्षण-क्षण मे एक से दूसरी पर आता-जाता और दोनों को बराबर चालू रखता, कभी उसकी 'सीट' पर पेट के बल लेट जाता, पैर 'कैरिअर' पर पीछे रख लेता, और दोनों हाथों से दोनों ओर के 'पैडिल' घुमा-घुमाकर साइकिल दौडाता और जब चाहता, तभी चट से साइकिल खड़ी करके नीचे आ जाता। इस तरह के

खेल दिखलाते हुए उसे अपार हर्ष होता था। एक बार रघुआ यह खेल दिखलाने मे व्यस्त था, उसी समय एकाएक पार्वती दूकान पर आ गई। दूकान के अन्दर बैठी हुई वह चुपचाप रघुआ के खेल देखती रही। एक बार रघुआ दो साइकिलो को चलाते हुए दोनों की सीटों पर उछल-कूद कर रहा था। एकाएक सामने एक आदमी आ गया। रघुआ ने उसको बचाने की चेष्टा की, तो धडाम से दोनो साइकिलो को लेकर सडक पर आ रहा। दर्शकों ने करतल ध्वनि की और उसी समय पार्वती भी हँस पड़ी। फिर तो रघुआ दूकान मे पार्वती को बैठा हुआ देखकर बहुत लजा गया। वह दूकान की ओर बढा, तो उसने देखा पार्वती उसकी ओर देखकर मुँह मे रुमाल लगाये हुए मुस्करा रही है। अब तो रघुआ और भी कट गया।

पर रघुआ कुछ बोला नही। हाँ, कोई एक भाव उसके मन को मसोसने जरूर लगा। बार-बार उसके जी मे आया, अगर मैं अपने मन मे साइकिल पर पूरी तरह से अधिकार होने का अभिमान न करता, तो काहे को आज मुझे पार्वती के सामने लज्जित होना पडता। बार-बार वह अपनी चचलता को धिक्कारने लगा। उसका चेहरा बिल्कुल उतर गया।

रघुआ को अन्य मनस्क देखकर पार्वती ने कहा— दादा, मै तो रग्घू भैया के खेल देखकर एक दम से चकित हो गई।

यह कह कर पार्वती रघुआ की ओर देखने लगी।

माताबदल बोला— हाँ बेटी, रघुआ साइकिल का मास्टर है।

पार्वती बोली—कही नुमायश या मेला हो और वहाँ रग्घू भाई अगर अपने इस तरह के करिश्मे दिखलाने का मौका पायँ और टिकट लगा दिया जाय, तो सैकडो रुपए इकट्ठे हो जायँ।

मातावदल—वैसे ही रघुआ कौन कुछ कम पैदा करता है। अब उसने रुपया जमा करना शुरू कर दिया है। तीन-चार सौ रुपए जमा कर लिया होगा। क्यों रे ?

रघुआ प्रसन्नता से गद्गद् हो गया। उल्लसित मुख से, अपने दोनों बड़े-बड़े दाँत बाहर निकाल कर बोला—हाँ दादा, अब तो पूरे चार सौ रुपए हो गये।

मातावदल—फिर क्या है, जहाँ एक हजार पूरे हो गए, रघुआ का ब्याह कर दूँगा।

रघुआ ने पार्वती की ओर देखते हुए कहा—नही दादा, मै ब्याह-आह नही करूँगा। इसी तरह बड़े मजे मे हूँ।

मातावदल—दुत! पागल कही का! यह क्या कहता है! ब्याह नही करेगा, तो क्या तेरे लिए रोटी पो-पोकर खिलाने को पार्वती यहाँ बैठी रहेगी।

रघुआ एकाएक गम्भीर हो गया। उसकी समझ मे नही आया कि अब वह क्या उत्तर दे। और कुछ इधर-उधर न देखकर वह एक ग्राहक की साइकिल की मरम्मत करने मे लग गया। इतने मे दो ग्राहक आ गये। मातावदल की बात जहाँ थी, वही पडी रह गई। पार्वती भी घर की ओर चल दी।

(५)

पार्वती का ब्याह हो गया। वह अपनी ससुराल चली गई।

घर पर पार्वती की बुढ़िया माँ ही अकेली रह गई थी। रोटी बनाने के लिए एक महाब्राह्मजन आने लगी थी। कुछ दिनो तक तो पार्वती का अभाव बहुत खलता रहा; पर फिर धीरे-धीरे सब काम ढंग पर आ गया।

जब कभी पार्वती की माँ की तबियत खराब होती, तो वह सोचती, यदि इस समय मेरी पार्वती होती, और मेरे निकट बैठती, सिर मे दर्द होता तो तेल की मालिश करती, पैरो मे दर्द होता तो पैर दबाती। हाय, इस समय मेरी पार्वती भी नही है।

मातावदल के कोई लडका न था। उसके प्राणों की निधि, उसकी एकमात्र आशा, अगर कोई थी, तो पार्वती। सो वह भी अपने घर की हुई। अब रघुआ ही निरन्तर उसके सामने रहता था। लेकिन तब और अब के रघुआ मे बडा अन्तर हो गया था। पहले तरह-तरह की रगीली बाते तथा चुहुलबाजियों द्वारा लोगों को सदा हँसाते रहने मे ही उसका सारा समय जाता था। और न सही, तो वह अपने साथियो से लड़ ही बैठता था, और कुछ देर के लिए यही एक नुसखा बन जाता था। पर अब रघुआ एक युवक के रूप मे आकर मातावदल की दूकान का मिस्त्री था। उसके साथी इस्माइल और तिरबेनी भी धीरे-धीरे चले गये थे। तिरबेनी कही मोटर-ड्राइवर हो गया और इस्माइल ने उन्नति करके साइकिल की दूकान खोल ली थी। पहले जब कभी रघुआ को भूख लगती, तो वह झट मातावदल के लिए खाना लाने के बहाने घर को चम्पत हो जाता था। अब दोपहर के बाद एक भी बज जाता है तो रघुआ काम छोडकर खाना खाने नही जाता। उधर मातावदल घर पर पड़ा रहता है। कभी कभी उसकी साँस फूल आती है। खाँसी तो जैसे उसके साथ जीवन भर को लग गई है। जब कभी रघुआ को खाना खाने के लिए देर हो जाती, तो महाराजिन खाना ढक कर चल देती। खाना ठंढा हो जाता। रघुआ जब पहुँचता, तो उसी ठढे खाने को पेट के अन्दर जैसे-तैसे छोड़ लेता था। पहले चार परॉठे खाने की भूख होती, तो पार्वती

से मीठी मीठी, सोंधी-सोंधी, बातें करते-करते चुटकियाँ बजाते हुए, छ खा जाता और कुछ मालूम न पड़ता था। अब चार की भूख होते हुए भी दो ही मुश्किल से पेट मे छोड़ पाता था। देर हो जाने पर मातावदल कहता—आज तो तुमने वड़ी देर कर दी रग्घू।

रग्घू या तो कुछ उत्तर ही न देता, अथवा कह देता—हाँ दादा, काम ही ऐसा आ गया था।

एक दिन मातावदल ने कह भी दिया काम-ही-काम देखते हो, कुछ शरीर भी तो देखा करो। इसी से सब कुछ लगा है। तुम से रोज़ कहता हूँ, ब्याह कर लो, लेकिन तुम मेरी कुछ सुनते ही नही।

लेकिन रघुआ है कि ऐसी बातों का उत्तर देना नहीं जानता।

जब कभी पार्वती ससुराल से आती, तो एक नया संसार निर्मित हो जाता। उसके माता-पिता उससे बाते करते हुए फूले न समाते। पार्वती के लिए तरह-तरह का भोजन तैयार कराया जाता, बंगाली मिठाई और फलों की घर मे इफरात रहती। कभी घर मे गाना गाने वाली बुलाई जाती और रात के एक बजे तक ससार का स्वर्ग मातावदल के घर के आँगन मे नाचा करता। इस प्रकार उन दिनो आनन्द-विनोद मातावदल के परिवार के कोने-कोने मे छितराया रहता था।

लेकिन रघुआ के मुख पर सदा गभीरता की छाप रहती। पार्वती जब कभी कोई बात उससे कहती, तो वह बड़ी विनम्रता के साथ उसका उत्तर देकर चुप हो जाता। रघुआ का यह शुष्क व्यवहार पार्वती बहुत दिनों तक टालती रही। एक दिन जब उसका जी न माना, तो उससे कहा—राघव भैया, आज मै तुमसे कुछ बाते करना चाहती हूँ।

रघुआ ने चकित होकर कहा—मुझसे ?

पार्वती—हाँ, तुम्हीं से।

रघुआ—क्या कहो।

पार्वती—देखती हूँ, तुम्हारा स्वभाव ही एकदम से बदल गया है। मुझ से भी तुम एकदम कटे-कटे से रहते हो। इस तरह बाते करते हो, जैसे मै इस घर के लिए नई हो गई हूँ। क्या बचपन की बाते भी तुमने अपने हृदय से निकाल कर फेंक दी हैं? क्या तुम्हे कभी इतना अवकाश नहीं मिलता कि तुम घड़ी-दो-घडी को मुझ से भी मिलो, कुछ अपनी बात सुनाओ कुछ मेरी सुनो।

रघुआ चुप था।

पार्वती पुन बोली— बोलो न, चुप क्यो हो ? मैंने जो कुछ कहा तुमने उसे सुना नही ?

रघुआ ने फिर भी कुछ उत्तर नहीं दिया। उसकी आँखों मे आँसू भर आये।

पार्वती ने कहा—मैने तुमको कभी दूसरा नहीं समझा। इस घर में सदा तुम मेरे भाई की तरह रहे हो। लेकिन ससुराल से आने के बाद तुम मे बडा परिवर्तन देख रही हूँ। वह हँसना, वह मसखरी की बाते करना, वह छीन-झपट और वह मान-विरोध तो जैसे तुम सदा के लिए भूल गये हो। सच बताओ, क्या तुमको यहाँ कुछ कष्ट है ?

रघुआ उत्तर देने की परिस्थिति मे अपने को नहीं देखता। अत: उसने अब भी कोई उत्तर नहीं दिया।

पार्वती उसी तरह कहती गई—देखती हूँ, तुम्हारे मुख पर वह श्री भी अब नहीं रही है। सुनती हूँ, न तुम्हे खाने की परवा

है, न पहनने की। दादा ने बतलाया है, वह तुमसे कह-कह के हार गए, पर तुम अपना ब्याह भी करने के लिए तैयार नही हो। यह सब कैसी बाते हैं ? तुम पागल तो नही हो गए हो ?

अब रघुआ चुप न रह सका। उसने अपने आँसू पोंछ डाले और कहा—आप यह सब बाते मुझ से क्यों पूछती हैं ? मै आप की बातों का उत्तर तो न दूँगा, लेकिन—लेकिन मै यह जानना चाहता हूँ कि आपका इन बातो से क्या प्रयोजन है ?

पार्वती—क्या कहते हो, किससे ये बाते कर रहे हो ? क्या तुमसे ये बाते मुझे पूछने का अधिकार नही है ?

रघुआ—न, तुम्हे इन बातों के पूछने का कभी अधिकार नहीं था, यह मै नहीं कहता। लेकिन अब वह अधिकार ।

रघुआ की आँखे लाल थी। उसका मुख एकदम तमतमा उठा था। उसने कहा—मै इस सम्बन्ध मे अब आप से क्या कहूँ ? आपके शरीर मे कही 'हृदय' नाम की कोई चीज़ है या नही, मैं तो यही निश्चय नही कर सका।

पार्वती ने गभीर होकर कहा—तुम भूल कर रहे हो राघव ! तुमने अभी संसार नहीं देखा है। देखा भी है, तो दूर से, उसका अनुभव तो कतई नहीं किया। तुम्हारी ही तरह मै भी रोना जानती हूँ। तुम तो पुरुष जाति के हो। तुम उतना रोना जानते भी नहीं, जितना मै जानती हूँ। लेकिन ज़रा दूर तक सोच देखो। इस रुदन मे क्या रक्खा है ?

रघुआ एकटक पार्वती की बाते सुनता रहा। वह कुछ बोला नही। पार्वती कहती गई—और ये बाते पूछने के अधिकार की बात जो तुमने कही, सो उसमे भी तुमने भूल की है। यदि वह

अधिकार मुझे कभी था, तो क्या तुम समझते हो कि वह कभी मुझसे छिन भी सकेगा ? मै सच कहती हूँ राघव मुझ से वह अधिकार कोई नही छीन सकता।

रघुआ ने देखा, पार्वती का प्रफुल्ल मुख एकदम से उतर गया है, उसके गले का स्वर एकदम से विकृत होना चाहता है।

पार्वती कहने लगी—'तुम मेरे जितने निकट तब थे, अब उस से भी अधिक निकट हो। तुम ब्याह कर लेते, तो मै तुम्हे सहज ही मे यह समझा सकती कि वास्तव मे तुम मेरे कितने निकट हो।

रघुआ ने कहा—आपकी बाते बडी कठिन हैं। मै उन्हे सुनते हुए सुखी तो होता हूँ, पर फिर भी उन्हे समझता नही। शायद समझ भी न सकूँगा।

पार्वती—तुम कैसे नासमझ हो, यह मै जानती हूँ। तुम कैसे जिद्दी हो, यह भी मुझ से छिपा नही है। लेकिन तुम मेरी एक बात मानो, ब्याह करलो।

रघुआ—किससे ?

पार्वती के मुख पर मुस्कराहट दौड गई। रघुआ भी हँसने लगा।

पार्वती बोली—बड़े बने हुए हो।

रघुआ—लेकिन तुमसे अधिक नही।

पार्वती—बड़े ढीठ हो गए हो।

रघुआ—लेकिन तुमसे अधिक नहीं।

पार्वती—अब तुम पिटोगे।

रघुआ—क्या अभी कुछ कसर रह गई है। इतना पिट चुका

हूँ कि अभी तक छाले अच्छे नही हुए हैं।

पार्वती—देखूँ तो, दो-एक।

रघुआ ने छाती खोल कर दिखा दी। बोला—देख लो।

पार्वती ने देखा, रघुआ के बदन की एक एक पसली गिनी जा सकती है। वह बोली—वाकई बहुत दुबले हो गए हो।

रघुआ—लेकिन अब जल्दी ही तगडा हो जाऊँगा।

पार्वती—कैसे?

रघुआ—बस, दो-तीन महीने मे देख लेना.

पार्वती—तो मेरी कही मान लोगे—ब्याह कर लोगे न?

रघुआ हँसने लगा।

पार्वती—सच बोलो, क्या पक्का कर लिया?

रघुआ—हाँ।

पार्वती—कहाँ-किसके साथ?

रघुआ—अब यह न पूछो।

पार्वती—देखो, अब तुम पिटना चाहते हो।

रघुआ—जितना पीटना था, पीट चुकी। अब नहीं पीट सकोगी।

पार्वती—तो बोलो, अब तुम इस तरह तो कभी न रहोगे, जैसे आज कल रहते हो।

रघुआ—नही।

पार्वती—अच्छा मेरी कसम खाओ।

रघुआ—मै किसी की कसम नही खाता।

पार्वती—तो मेरे शरीर पर हाथ रख कर कहो।

रघुआ—बस, हो चुका। अब अधिक मुझे विवश न करो।

दोनो की बातें अभी समाप्त न हो पाईं थी कि महाराजिन ने दो थालियों मे खाना परोस कर दोनो को खाना खाने को बुलाया। दोनों अठखेलियाँ करते हुए खाना खाने लगे। पार्वती ने कचौड़ी-तरकारी का एक कौर रघुआ के मीठे दूध मे छोड दिया। रघुआ ने अपना दो चमचा मीठा दूध पार्वती की तरकारी मे उड़ेल दिया। इसी तरह दोनो हँसते-हँसाते रहे।

खाना खाने के बाद रघुआ ने मातावदल से कहा—मै आज सिनेमा देखने जाऊँगा और जरा देर से लौटूँगा।

पार्वती ने कहा—दादा, मै भी जाऊँगी।

मातावदल बोला—चली जाओ अपने रघुआ भाई के साथ। रघुआ, इसको भी साथ लेता जा।

(६)

पाँच वर्ष और बीत गए। न मातावदल इस ससार मे है, न उसकी बुढिया। लेकिन रघुआ अब भी दूकान का मैनेजर है। पार्वती अब ससुराल छोडकर यही अपने पिता के घर आ गई है। उसका स्वामी यही एक बैक मे, एकाउन्टेन्ट होकर आया है।

रघुआ अब भी अविवाहित है। वह सदा प्रसन्न रहता है और दुकान पर बैठा हुआ पार्वती के बच्चो को खिलाया करता है। उन बच्चों को हँसाने खिलाने मे उसने अपने जीवन को मिला दिया है।

एक बार रघुआ के सामने पार्वती ने अपनी नन्ही-सी बच्ची

से पूछा—तारा, तू किस की बच्ची है, बता तो।

तारा ने रघुआ की ओर उँगली उठा दी। दोनों निहाल हो गए। रघुआ ने अपने मन-मानस में तैरकर अनुभव किया, संसार का स्वर्ग-सुख भी, जान पड़ता है, ऐसा ही है।

पार्वती ने तारा को गोद में उठाकर उसका मुख चूम लिया। बोली—तू बड़ी रानी बिटिया है।

बधाई

"आप शायद सो गये थे। आपको मैंने ऐसे समय आकर कष्ट दिया, इसका मुझे खेद है। किन्तु मैं—मैं करता क्या? मेरे सामने एक ही प्रश्न था, कैसे मैं आप से मिलूँ—कैसे आपको अपना अन्त:करण खोलकर दिखलाऊँ! आप विश्वास न करेंगे। सारी बातें एक विराट रहस्य से आवृत रहती हैं। किसी का कोई दोष नही है। अधिक क्या कहूँ? मै दु:ख के साथ आपको बधाई देने ही आया हूँ। मै अब जा रहा हूँ। आप से आज्ञा चाहता हूँ। अब आप सोइये। मै यह चला। नमस्कार।"

बस, इतनी बात कहकर रघुनाथ चला गया।

कुछ वर्ष पहले रघुनाथ यहाँ इस नगर मे किसी काम-काज की तलाश मे आया था। गिरधारी के यहाँ वह प्राय: देख पड़ता था। उसकी आँखें सदा कुछ न कुछ अध्ययन करती हुई प्रतीत होती थीं। यद्यपि वर्ण और वेश-भूषा उसकी काफ़ी उजली थी तो भी उसके मुख पर किसी प्रकार का उल्लास देख नहीं पडता था। गिरधारी के घर वह जब कभी देख पडता, यद्यपि मुझसे कुछ कहता न था, तथापि सदा उसको देखकर मुझ पर यही प्रभाव पड़ता था कि वह कुछ कह रहा है। उस समय मेरी इच्छा हो आती थी कि मैं उससे कुछ पूछूँ; किन्तु उसकी शान्त छाया से मै कुछ ऐसा घिर

जाता था कि किसी प्रकार की बात उठाने के साहस का मुझ मे तिरोधान-सा हो उठता था।

जब रघुनाथ को कहीं कोई काम नहीं मिला, तो वह गिरधारी के यहाँ चुटपुट काम करने लगा। कभी वह साइकिल पर सवार होकर किसी के पास कोई संवाद लेकर जाता, कभी डाकखाने से पोस्टकार्ड और लिफाफे लाता और गिरधारी की जो निजी डाक तैयार मिलती, उसे डाकबम्बे मे छोड़ आता। वास्तव मे यह काम एक चपरासी का-सा था। किन्तु रघुनाथ को ऐसे काम करते हुए भी कोई आपत्ति नही होती थी।

यह सब कुछ था, किन्तु रघुनाथ कभी, अपनी ओर से, किसी से कुछ कहता न था। गिरधारी भी उससे कुछ काम तो ले ही लेता था, तथापि उसे भी अभी तक उससे यह शिकायत बनी ही हुई थी कि वह अनपेक्षित रूप से गम्भीर है। कई बार उसने मुझसे कहा था—यह व्यक्ति बड़ा सच्चा, ईमानदार और परिश्रमी है। मुझे भय है कि एक न एक दिन, यहाँ से चल ज़रूर देगा। पर उसकी इस बात पर मुझे उतना दुःख न होता, जितना यह जानकर कि वह पागल हो गया है।

गिरधारी की यह बात सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ था। मेरे मन मे आया था कि उस समय, मै उससे स्पष्ट रूप से यह कह दूँ कि ऐसी दशा मे उसे अपने यहाँ आश्रय देना उचित नहीं। व्यर्थ मे एक उलझन क्यो मोल ली जाय? किन्तु फिर गिरधारी से इस तरह की बात कहने का उत्साह मैने अपने मे नही देखा। सम्भव है, इसका कारण यही रहा हो कि उन दिनो मै रघुनाथ से कुछ सहानुभूति रखने लगा था।

गिरधारी मेरा मित्र है। मित्र से भी बढ़कर वह मेरे लिए श्रद्धा की वस्तु है। मैं उसका आदर करता हूँ। उसके स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति होता, तो बिना किसी विशेष आवश्यकता के रघुनाथ जैसे व्यक्ति को आश्रय देने के लिए कभी तत्पर न होता। किन्तु वह मनुष्य को पहचानना जानता है। दूसरों क कष्टों के आगे उसे अपनी असुविधाएँ भूल जाती हैं।

एक दिन इंश्योरेंस कम्पनी के अपने आफ़िस से लौटते हुए गिरधारी ने प्रसन्नतापूर्वक रघुनाथ को बुलाकर कहा—"आज मैं तुमको एक खुशख़बरी सुनाना चाहता हूँ।" तो भी रघुनाथ ने लपक कर यह नहीं कहा कि 'सुनाइये, सुनाइये। जल्दी कीजिये।'

वरन्, इसके विपरीत, वह अपनी अँगुली का नख देखने लगा।

उत्साह से गिरधारी ने फिर कहा—"तुम्हारी नौकरी तय हो गई है। काम बहुत साधारण है। केवल डिस्पैचिंग करना होगा।"

गिरधारी ने देखा, रघुनाथ फिर भी मौन है, पर अब की बार उसका मौन गिरधारी को खल गया। वह बोला—"अगर आपको मेरी बात नहीं सुननी है, सुनकर उसको स्वीकार नहीं करना है, स्वीकार करके फिर उस पर अमल नहीं करना है, तो आपका यहाँ कोई काम नहीं है। आप खुशी खुशी जा सकते हैं।"

जवाब तो तब भी रघुनाथ ने मुँह खोलकर नहीं दिया, किन्तु उसके पलक ऊपर को उठ गये। एक बार उसने गिरधारी की आँखों से आँखें मिलाकर उन्हें देखा भी, किन्तु दूसरे ही क्षण उसकी आँखें चमकने लगीं। उनमें आँसू भर आये। गिरधारी उसके भीगे पलकों को सहन न कर सका। वह बोला—"आप जीविका

ही तो चाहते थे। मैं इसी चेष्टा मे लगा था। ईश्वर-कृपा से आपकी नौकरी ठीक हो गयी और अब आपको मुझ पर अवलम्बित रहने की आवश्यकता न होगी। अपने जीवन मे आप अब एक अभिनव सुख-शान्ति की हरियाली लहलहाती हुई पायँगे।"

रघुनाथ ने गिरधारी के शब्दों को दोहराते हुए कहा—"जीवन में सुख-शान्ति की हरियाली ..!"

उत्तर देते हुए उसके ओंठ कम्पित हो रहे थे। विषाद की म्लान छाया से उसकी मुद्रा नितान्त अभिभूत हो उठी थी। उसका वाक्य अधूरा रह गया। भीगे कण्ठ से वह अपनी बात पूरी न कर सका। गिरधारी कमरे मे आकर, आफिस के ही वेश मे, आराम-कुरसी पर पैर फैलाकर बैठ गया। हथेली पर मस्तक टेक कर देर तक वह यही सोचता रहा—इस रघुनाथ के लिए अब मै क्या करूँ ? इस तरह से तो यह आफ़िस मे भी कार्य न कर सकेगा। गूँगे क्लर्क के साथ निर्वाह कैसे किया जा सकेगा ?

किन्तु गिरधारी को इस सम्बन्ध मे फिर कभी चिन्तित होने की आवश्यकता नही पड़ी। क्यो कि दूसरे दिन से रघुनाथ उसके आफ़िस मे काम करने लगा।

(२)

गिरधारी के आफ़िस मे काम करते हुए पूरे छ महीने भी अभी रघुनाथ को नही होने पाये थे कि पचीस के बजाय अब उसे तीस रुपये मासिक वेतन मिलने लगा था। ब्राञ्च सेक्रेटरी उसके काम से बहुत प्रसन्न थे। चिट्ठियों के ड्राफ्ट बनाने का अभ्यास यदि वह और करले, तो उन्होंने वचन दे दिया था कि

उसका वेतन चालीस रुपये मासिक कर दिया जायगा। किन्तु रघुनाथ को पत्रों के ड्राफ्ट तैयार करने का कार्य सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ी। ब्राँच-सेक्रेटरी के इस आश्वासन के दूसरे ही दिन से वह इस कार्य को भी सुचारु रूप से करने लगा।

अब रघुनाथ से हम लोगों का मिलना जुलना कम हो गया था। गिरधारी के घर भी अब उसका आना न होता था। आफ़िस मे भी उसे इतना अवकाश नही मिलता था कि वह रघुनाथ के पास जाकर बैठता और उसकी तबियत का हाल-चाल लेता। पद-मर्यादा मे उनके सीनियर होने के कारण वह ऐसा कर भी न सकता था। कार्य मे सलग्न रहते हुए कभी-कभी रघुनाथ की छाया मात्र उसे देख पडती थी। पर उस क्षणिक दर्शन से रघुनाथ की जीवन-धारा का उसे भला क्या पता चलता?

गिरधारी के जीवन मे इधर नये नये परिवर्तन होते जा रहे थे। उनकी अवस्था अब चालीस से ऊपर थी और अब तक उन्होने सन्तान का मुँह नहीं देखा था। रात दिन एक चिन्ता, एक अभाव की आग उनके भीतर-ही-भीतर धधक रही थी। किन्तु कभी वह किसी से कुछ कहते न थे। उनकी पत्नी दूसरी थी। जब उनका यह विवाह हुआ था, उस समय वह केवल चौदह वर्ष की थी। किन्तु गिरधारी तीस पार कर चुका था। नवपत्नी को पाकर पहले उसने समझा था—वास्तव मे उसका भाग्य अब खुला है। जीवन मे अब उसको और चाहिए क्या? रुपये-पैसे की कमी नही है, मकान अपना है। पत्नी कितनी सुशिक्षित, सुशील और सुन्दरी! हाँ अवश्य एक कमी है। वह जानता है। पर उसकी ऐसी जल्दी क्या है! भगवान चाहेगा, तो वह दिन भी ..।

जीवन आशा का ही दूसरा स्वरूप है। सरिता की उपत्यका मे बैठकर, हरियाली ही-हरियाली आँखो मे भरकर, सुमन-दलों की सुकुमारता का ही अनुभव करते-करते गिरधारी निकट खडे हुए गगन-चुम्बी शाल-वृक्ष की ओर देख रहा था।

वह सोचता था -जिस स्रष्टा ने यह हरियाली दी है वही वह छाया-तरु भी देगा। देर हो सकती है, किन्तु आशा सदा मरीचिका ही नही बनी रह सकती। कभी न कभी तो वह दिन आयगा ही, जब .।

लेकिन वर्ष-पर-वर्ष बीतते गये, गिरधारी के जीवन मे वह दिन नही आया।

पुष्पा खाना परोस कर प्राय. गिरधारी के निकट बैठ उस पर व्यजन डुलाती। प्रारम्भ मे, ऐसे अवसरों पर भी, मनोविनोद चलता था। अब वह बात न थी। अब तो गिरधारी ऐसे समय, पुष्पा से बोलते हुए भी, भय कातर-सा रहने लगा था। पलक उठा कर उसकी ओर देखना उसके लिए दुष्कर हो जाता था। बातें होती थीं, किन्तु वे प्राय. गृहस्थी की दैनिक आवश्यकताओं से ही सम्बन्ध रखती थी। मनोरजन भी कभी-कभी चल उठता था, किन्तु उसका हेतु होता था केवल उस शून्य वातावरण की नग्नता का तिरोधान करना।

(३)

इसी बीच आ गया यह रघुनाथ।

वह बाहरी बैठक मे रहता और काम पूरा होने पर चला जाता। पहले रघुनाथ घर के अन्दर पैर नही रखता था। किन्तु दस दिन के बाद ही गिरधारी ने पुष्पा से कह दिया—"यह रघुनाथ

तुम्हारे लिए ग़ैर नहीं हो सकता। यह मेरा छोटा भाई है। रघुनाथ अपनी भाभी के चरण छूकर मेरी इस बात को प्रमाणित करो।"

रघुनाथ उठा। पुष्पा ने एक बार आँख उठाकर उसकी ओर देखा। क्षण-भर का भी विलम्ब किये बिना वह बोल उठी—अच्छा, अच्छा, खुश रहो। बैठो। पैर छूने की जरूरत नही है।"

उस समय पुष्पा क मुख पर उल्लास एक बार कम्पित हो उठा था। उसकी वाणी मे वेग तो था, किन्तु विदग्धता नहीं थी। विभाव था, किन्तु निरोधहीन, विमुक्त।

अब गिरधारी का अन्त पुर रघुनाथ की अपनी सीमा थी। पहले वह उसके घर मे उसी समय आता था जब गिरधारी उपस्थित रहता था। अब ऐसा कोई बन्धन नहीं था।

कुछ दिनो के बाद गिरधारी के मन मे आया—मनुष्य देवता नही बन सकता। उसने यह भी सोचा—देवत्व मनुष्यता से परे कोई वस्तु नहीं। पुष्पा पर वह विश्वास करता था। और उससे भी अधिक वह विश्वास करता था रघुनाथ पर। दोनो पर उसका विश्वास अब भी पूर्ववत् स्थिर था, किन्तु अविश्वास उसे था, तो अपने आप पर। एक दिन जिस गिरधारी ने पुष्पा से कहा था—रघुनाथ मेरा भाई है। आज उसी को कहना पडा—रघुनाथ का मेरी अनुपस्थिति मे तुमसे मिलना-जुलना मुझे अब स्वीकार नहीं है।'

उस समय पुष्पा की मुद्रा पर वह ज्योति न थी, जो उच्छिन्न होना नही जानती। उद्ध्वस्त मन का उत्पात उस पर खेल रहा था। उसने पूछा था—'आज तुम्हारे लिए वह शत्रु है?'

(४)

गिरधारी के जीवन मे यह पहला दिन था, जब उसने पुष्पा के कथन मे ऐसी तीव्रता, वाणी मे ऐसा प्रतिघात और रूप मे इतनी अपरूपता का अनुभव किया था। शान्त रह कर बडी देर तक वह विचार करता रहा था। न उसने पुष्पा से कोई बात की थी, न पुष्पा ही उसके निकट आकर बोली। गिरधारी ने घर से बाहर आकर, मित्रो के साथ, अपना वह छुट्टी का दिन व्यतीत कर दिया, और पुष्पा ने उपवास करके।

किन्तु रघुनाथ को गिरधारी की इस मनःस्थिति का कुछ पता न था। एक निश्चित गति से वह चल रहा था। सरोवर का-सा शान्त जल था वह। वायु क झकोरे उस पर लगते थे, तरगे भी उठती थीं, किन्तु उनमे वैसा कोई फैला हुआ, व्यापक उत्क्षेप नही था, उत्पात नही था।

रात को ग्यारह बजे आकर गिरधारी चुपचाप लेट रहा था। उसकी आँखो मे नीद नही थी। कमरे की रोशनी उसने बुझा दी। निकट के नीम के वृक्ष से उत्थित पवन के झकोरो तथा पत्तियो का मर्मर शब्द वातायन से आ रहा था। सुदूर-व्यापी कर्कश श्वान-स्वर भी कभी-कभी उसके कानो मे आ पड़ता। अँधेरी रात्रि की सारी कालिमा उस समय उसकी दृष्टि के आगे मूर्तिमान हो उठी। भयानक संकल्प विकल्प उस समय उसके चारों ओर चक्कर लगा रहे थे। जब लेटे रहना उसके लिए दुष्कर हो उठता, तो वह झट से उठ बैठता और उसी घने अन्धकार मे, कमरे मे टहलने लगता। उसने आज भोजन नही किया था। मेरे यहाँ केवल चाय पी थी। पान भी दस-पाँच बीड़े खाये थे। पर भूख की रुक्षता, शरीर को

शिथिलता और सिर की पीडा का उसे भान नही था। दाँत पीसने का किटकिट शब्द, गला, भौंहों और मस्तक की नसों का तनाव उसके मन मे आये काले-काले सकल्पो के अट्टहास के साथ योग दे रहा था।

गिरधारी ने चाहा कि वह देखे, पुष्पा क्या कर रही है? सम्भव है वह रघुनाथ के साथ हमबिस्तर हो! एक चमकता हुआ छुरा उसने जेब से निकालकर अपने हाथ मे ले लिया। उस क्षण उसका हाथ काँप गया, हृदय धक् धक् कर उठा। उसने सोचा—वह यह कर क्या रहा है, आखिर उसका इरादा क्या है? उसे पता चला, जैसे उसने पुकारा हो—पुष्पा! पुष्पा! पर वास्तव मे उसने पुकारा नहीं था उसे। कवल उसे ऐसा भान हो रहा था।

अब गिरधारी ने बिजली का बटन दबा दिया। रोशनी कमरे भर मे फैल गयी। पहले उसकी दृष्टि गयी घडी पर।—'ओ वह बन्द हो गयी है! कई दिन से उसे इसका भी ध्यान नहीं था! खैर यह घडी बन्द रहने के ही योग्य है! इसे चलाना व्यर्थ है।'

वह चुपचाप मकान के उस कमरे की ओर जा पहुँचा, जहाँ पुष्पा लेटी हुई थी। वहाँ रोशनी नही थी। गिरधारी के मन मे आया—यहाँ भी अँधेरा है! लेकिन यहाँ अँधेरा क्यो है? यहाँ तो अँधेरा नहीं होना चाहिए। गिरधारी का अन्धकार यदि पुष्पा के लिए भी काला ही है, तो ?

"नहीं, ऐसा नही हो सकता।"—गिरधारी सोचने लगा। बिजली का बटन दबाकर उसने देखा—पुष्पा सो रही है—सचमुच सो रही है? अब छुरे को उसने खूब मजबूती के साथ पकड़ लिया। 'किन्तु .।' उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ।

—"क्या पुष्पा...?"

उसने पुष्पा को और निकट से देखा। छुरा उसके हाथ से छूटकर फ़र्श पर गिर कर कट् से बोल उठा।

... ...

पोस्टमार्टम से पता चला—उसने ज़हर खाया था और उसके चार महीने का गर्भ था।

दूसरे दिन, ग्यारह बजे रात के समय, अचानक आ पहुँचा रघुनाथ। उसने क्या कहा, वह क्या कहता रहा, थोड़ी देर तक—गिरधारी कुछ समझ न सका। उसे केवल इतना याद रह गया—वह उसे बधाई देने आया था।

उस समय गिरधारी को ख्याल आ गया—एक दिन उसने किसी से कहा था (मुझसे?) रघुनाथ चला जायगा या पागल हो जायगा। उसने सोचा, बस यही बात है—रघुनाथ पागल हो गया है।

कल्याणी

एक नाव पर तीन व्यक्ति आसीन हैं। पहला व्यक्ति अधेड़ है। उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई है और केशों में जटायें पड़ गई हैं। वह काषाय वस्त्र धारण किये हुए है। वह साधु है। दूसरा व्यक्ति धोती की जगह लुँगी, बदन पर चारखाने की क़मीज और उस के ऊपर काली इटैलियन का वेस्टकोट पहने है। उसके सिर के बाल कुछ बेढँगे तौर से बिखरे हुए हैं। उसकी आँखें लाल हैं और मुँह से ठर्रे की बू आ रही है। वह एक डाकू है और सात वर्ष की सजा काट कर लौटा है। तीसरी एक स्त्री है। उसके वस्त्र भीगे हुए हैं। वह करवट लिये चुपचाप लेटी हुई है और उस के मुँह से पानी के साथ-साथ लार बह रही है।

साधु मन-ही मन कुछ सोच रहा है। वह अपने अतीत को देखता है, तो उसे ऐसा प्रतीत होता है, जैसे वह अपने पीछे एक लम्बा, घना और जटिल इतिहास छोड़ आया है। कुछ चीज़ें उसे याद आती हैं, कुछ विस्मृति के गर्भ मे विलीन हो गई हैं और ऐसा जान पड़ता है, मानो वे धुलकर, मिटकर, उजली पड़ती हुई गंगा की रेणु की भाँति ठंडी, शान्त, चिरशांत और मूक हो गई हों।

डाकू बीड़ी पी रहा है। उसकी दृष्टि कभी साधु पर जा अटकती है, कभी उस स्त्री पर, जो मृत्यु के गले में बाहें डाले हुए स्थिर पड़ी हुई है; पर जिसकी साँस अभी जीवन के लाल पंजे से मुक्त नहीं हो सकी है।

साधु ने यकायक अपने सिर पर हाथ रक्खा, फिर उसे मस्तक और मुँह पर फेरा। इसके बाद अपनी दाढ़ी के भीतर अँगुली डालकर उसके सूखे उलझे बालों को जैसे सुलझाता हुआ वह कहने लगा—"तो तुम सोचते होगे, तुम ने यह बहुत बड़े पुण्य का काम किया है। क्यों ?

कहकर वह चुप हो गया फिर थोड़ा ठहर कर बोल उठा—लेकिन तुम ने यह नहीं सोचा कि अपनी एक मात्र संतान जवान बेटी को पहचान कर, उसको डूबता हुआ देख कर भी उसे न बचा कर एक तरह से उस की हत्या करना कितना बड़ा पातक है ?

इस बार डाकू हँसा। क्षुद्रता के भाव से उसका निचला होठ थोड़ा आगे बढ़कर फैल गया। बीड़ी धारा पर फेक कर वह बोल उठा—जिन्दगी में ऐसे कितने पातक किये बैठा हूँ, गिनाने बैठूँ तो पापों की वह गठरी खुलकर—बिखरकर—जानते हैं आप को किस नजर से देखेगी और क्या जवाब देगी ?

साधु पहले तो सन्न रह गया, किन्तु फिर सावधान होकर बोला—मुझे कुछ बुरा नहीं लगेगा। तुम जो चाहो, कह सकते हो।

डाकू साधु के इस उत्तर से ज़रा भी विचलित नहीं हुआ। वह बोला—वह कहेगी, साधु हो जाने पर भी वह मूर्ख ही बना रहा।

साधु के मुख पर हास्य की रेखायें दौड गईं। उसने नाविक की ओर देखा कि उसके श्याम नग्न स्कन्ध और बाहु पसीने से चमक रहे हैं।। तब वह बोला—अब नौका मत खेओ बन्धु।

चिन्ता नहीं, देर हो जाय। लगर डाल दो और थोडा आराम कर लो।

साधु की अँगुली अब भी दाढ़ी के वालो से उलझी हुई थी। डाकू की ओर देखते हुए उस ने कहा—साधु को मूर्खों से भी प्रेम करना होता है, बन्धु। उसके लिए घृणा निषिद्ध है। तुम बुद्धि मे वृहस्पति के समान उदित होओ, तुम्हारे लिए यह मेरा आशीर्वाद है। लेकिन यह तुम ने नहीं बतलाया कि आखिर माँ का अपराध क्या था!

डाकू सोचने लगा, यदि वह चाहता, तो तैरकर निश्चय ही अपनी इस युवती कन्या को बचा सकता था।

नौका जहाँ की तहाँ स्थिर है और नाविक का मन शांत है।

स्त्री ने यकायक करवट बदली। उस का दायाँ हाथ नाव के कठोर तख्ते पर कुछ जोर से जा गिरा। हथेली पर मेंहँदी की लाल-लाल बुँदकियाँ खिल उठी। उसके कठोर उभरे हुए स्तनों का तनाव कचुकी को फाड़ कर भीगी महीन साडी के भीतर से झलक उठा। उसके मुख की सोई छवि जैसे स्वप्नावेश से मुखरित हो उठी।

डाकू ने फिर दूसरी बीडी सुलगाई। एक साथ कई कश लेकर वह बोला—इसने अपने पिता के साथ विश्वासघात किया। जब इसका पति लेने नहीं आया, तो कुछ ही वर्षों बाद प्रतीक्षा और साधना का जीवन न अपनाकर यह किसी दूसरे के साथ भाग गई। फिर उसके यहाँ भी जब इसका निर्वाह न हुआ, तो उसने अपने शरीर का ही व्यवयास शुरू कर दिया। चाहे यह चोरी करती—डाका डालती। यह और चाहे जो करती। पर इसने

तो हमारी जाति के नाम पर बट्टा लगाया। यदि और कुछ नहीं कर सकती थी, तो क्या ज़हर खाकर मर जाना भी इसके लिए मुशकिल था ?

साधु ने डाकू की बात सुनकर नाविक की ओर देखा। देखा उसकी आँखें झपक रही हैं। तब वह बोला—सोओ मत, बन्धु, हमको बहुत दूर जाना है। लगर उठा लो। अब हमें चला ही चलना है।

नाविक के बाद अबकी बार उसने उस स्त्री के सिर की ओर झुक कर उसके मुख को ध्यान से देखा। अब उसकी हृद्गति कुछ तीव्र हो रही थी। तत्काल ही उसका हाथ अब उसके भीगे सिर पर जा पड़ा और उसने अपने उत्तरीय से उसके भीगे केश पोंछ डाले। उसने उसके मस्तक पर हाथ फेरा और उसके मुँह से निकल गया—तुम को अभी जीना है, शक्ति-माता! तुम्हें अभी सजग होना है। तुम हम को जिलाने के लिए पैदा होती हो। तुम्हारे मरने का कोई काम नहीं है।

डाकू साधु की चमकती आँखों को देख रहा था। कभी-कभी उसका समस्त शरीर जैसे कम्पित हो उठता था।

नाविक तेज़ी से नाव खेये जा रहा था।

साधु कहने लगा—इस पृथ्वी पर सब का अधिकार है, बन्धु। यहाँ पापी भी जीने के लिए हैं। लेकिन तुमने यह नहीं बतलाया कि इसके पति ने क्यों इसका त्याग किया था।

कथन के पश्चात् साधु की दृष्टि गंगा की धारा पर जा पड़ी। अब सूर्य्य-अस्त हो गया है। रात घनीभूत हो रही है। फिर उस ने एक बार क्षितिज की ओर देखा। देखा, सभी कुछ

एक-रस है। किनारा और किनारे का गाँव, धारा और उसका विस्तार, सभी समवर्णी है। आकाश तो शून्य है ही, जगत का शब्द तक शून्य है। हाँ, दूर—बड़ी दूर—कही कहीं कुत्तों के भूकने का स्वर सुनाई दे जाता है।

डाकू कह रहा है—उन दिनों मैं घर ही पर था। इसके पति ने किसी बात पर नाराज़ होकर इसके पेट पर लात मार दी थी। उन दिनों इसके पेट मे बच्चा था।

साधु ने भावावेश मे अविलम्ब कह दिया—वह हत्यारा था। उसका अपराध क्षमा करने योग्य नहीं। अगर तुमको कभी उसका पता चल जाय, तो तुम उसे · ।

एक बार यह भी उसके मन मे आया, यदि नहाते हुए उसकी दृष्टि यकायक उस ओर न जाती, यदि वह तुरन्त तैरता हुआ उसे न बचा लेता ··।

एक आँसू उसकी एक आँख से गिर पड़ा। उसका वाक्य अधूरा छूट गया और उसे स्मरण आगया वह दिन, जब एक संस्था के अधिकारी ने उसके सम्बन्ध की अप्राकृतिक पतन-गाथा जान-सुनकर उस से कहा था काला मुँह कर जा यहाँ से, पापी, नीच, नाली के कीड़े। ईश्वर को डरता हूँ, नहीं तो, तेरी बोटी-बोटी कटवाकर नदी मे फिकवा देता।

और एक गम्भीर, शान्त तथा स्थिर स्वर मे वह बोल उठा--नहीं, तब भी तुम उसे क्षमा कर देना, बन्धु! क्षमा से बढ़कर दूसरा दंड नहीं है। मनुष्य अपने अपराध का दँड प्रकृति से पा लेता है। शासन व्यवस्था यदि उसे दंड न दे तो समाज-प्रकृति उसे दंड देती है। उस समय आत्म-ग्लानि का दड तुम्हे भोगना

ही, पडता है। अपने पैर मे कुल्हाड़ी मारने का दंड कोई दूसरे थोड़े ही देता है। पर जिस व्यक्ति को इतना भी ज्ञान नहीं कि कोई आत्मीय हो या अपने समाज का प्राणी, मानवता के नाते, उसकी हानि अन्त को है तो अपनी ही हानि, वह असल मे मनुष्य ही नहीं है। वह पशु है। ···पर तुम ने यह नहीं बतलाया बन्धु कि इस नारी का पति इसकी किस बात पर इससे नाराज हुआ था ?

डाकू ने लक्ष किया, इस बार साधु ने उसकी कन्या को माँ सम्बोधन नही किया। उस ने झट से एक बीडी निकाली और साधु को देते हुए कहा— 'जरा तुम भी पीकर देखो, महात्मा!" दूसरी उसने अपने दाँतों से दबा ली।

साधु ने कहा—क्षमा कर दो, बन्धु। संसार की ज्वाला की आँच ही ऐसी कौन कम है, जो इस कृत्रिम आग से अपने को तपाने की चेष्टा करूँ।

तदनन्तर उसकी दृष्टि उस स्त्री पर जा पडी। नाविक ने फ़र्श के तख़तों के नीचे से लालटेन निकाल कर, जलाकर सामने रख दी। कुछ ऐसा जान पडा, जैसे वह स्त्री कुछ बुदबुदा रही है। साधु ने लक्ष किया, उसके होंठ हिल रहे हैं। उसने उसका हाथ थामकर नब्ज देखने की चेष्टा की। तत्काल उसके मुँह से निकल गया—विश्व को अपने भाग का कर्तव्य चुकाओ कल्याणी। तुमको जीना है। तुमको उठना है, तुमको मनुष्य जाति को मार्ग दिखाना है।

कथन के पश्चात साधु ने एक निःश्वास ली। डाकू कुछ सोचने लगा। उसे साधु के इस नये सम्बोधन पर आश्चर्य हो रहा था। वह बार-बार साधु को देखता था। परन्तु वह कुछ स्थिर न कर पाता था।

वह बोला—सुनते हैं, इसका अपराध यह था कि यह प्रायः सभी से हँस-हँस कर बातें करती थी। और स्वामी को इसकी यह बात पसन्द न थी। वह शायद इस पर अविश्वास करने लगा था।

अविलम्ब साधु के मुँह से निकल गया—वह नराधम था, बन्धु। उसका मुख देखना भी पाप है। इस समय फिर उसकी आँखों मे जल छलछला आया। कुछ स्थिर होकर वह बोला—... लेकिन नहीं, तुम उसे क्षमा ही कर देना, बन्धु। प्रकृति ने उसे दंड दे लिया होगा।

कथन के बाद उसने आकाश की ओर देखा। देखा, अन्धकार-ही-अन्धकार चारों ओर फैला हुआ है। किन्तु कुछ दूर पर एक ओर उसे ऐसा भी जान पडा, जहाँ अनन्त दीपक जल रहे थे। उसने नाविक की ओर देखते हुए कहा—उधर वह रोशनी कहाँ हो रही है ?

नाविक मुसकराने लगा। वह बोला—आप इतना भी नहीं जानते, महात्मा जी !

निःश्वास लेते हुए साधु बोला—संन्यासी का ज्ञान खो गया है। उसका ध्यान खो गया है। वह भ्रम मे पड़ गया है। वह कहाँ जा रहा है, यह भी नही जानता। वह कैसे कहे कि यह दीपमालिका है ?

उसकी दृष्टि फिर उस रमणी की ओर आकृष्ट हो गई। वह आँखे खोल चुकी थी। कराहते हुए उसने कहा—आह ! मै कहाँ हूँ ? बडा दर्द है।

डाकू को पुत्री पर मोह उत्पन्न हो गया था ! लेकिन वह कुछ

स्थिर नहीं कर पाता था। कभी कभी वह धारा की ओर कुछ खोजने लगता था।

हर्षातिरेक से साधु ने पूछा—कहाँ बन्धु ? कहाँ दर्द है ? ·· तुम नाव पर हो, तुम्हारा जीवन सुरक्षित है।

डाकू सोचने लगा—इस महात्मा को हो क्या गया है ! वह इस युवती को भी बन्धु कह कर पुकारता है। लेकिन ऐसा जान पड़ा, जैसे वह अब तक कुछ स्थिर नही कर पाया है।

युवती उसका हाथ अपने हाथ मे लेकर उसे अपने पेट के पास ले गई और बोली—यहाँ ··यहाँ। आँते जैसे फटी जा रहीं हैं।

तत्काल साधु बोल उठा—मेरे पास दवा है। मैं दवा देता हूँ। तुम थोड़ी हिम्मत बाँधो मित्र ! तत्काल उसने झोली से एक बूटी निकाली और टेकनी से उसे कुचलकर उस युवती को खिला दी।

किन्तु इसी क्षण यकायक डाकू कुछ तीव्र और कम्पित स्वर मे कहने लगा—मैंने कल्याणी और उसके स्वामी (आप को) क्षमा कर दिया है, महात्मा जी। लेकिन मै अपने को क्षमा नहीं कर सकता।

और यकायक वह उछला और उस अगाध जल मे, उस निविड़ अन्धकार मे, झम्म से कूद पड़ा। नाव एकाएक ज़ोर से हिली और धीरे-धीरे सम्हल गई। कई एक भयानक हिलकोरे आये और क्रमश मन्द पड़ गये। पानी के बुलबुले उठे और शान्त हो गये।

नाविक ने तत्काल डाकू को खोजने की भरसक चेष्टा की, किन्तु सब व्यर्थ।

थोड़ी देर बाद—साधु जब कल्याणी को दोनों बाहुओं पर लेकर अपनी कुटी की ओर ले जाने लगा, तो एक ओर उसकी कुटी का द्वार प्रकाश से जगमगा रहा था—दूसरी ओर उसका स्वस्थ मानस।

सतरे का छिलका

प्रमोदशंकर अपने आप बातें करता हुआ चला जा रहा है। नोट-बुक उसके बाँए हाथ मे है। पारकर-फाउन्टेन-पेन कोट के जेब मे। दायाँ हाथ ख़ाली है। सिर के बाल खूब सघन हैं, बढ़े हुए भी। बालों के झुरमुट मे गोरा मुँह वैसा ही समझो, जैसे घिरे हुए बादलों के बीच से दिन निकल रहा हो।

हाँ, तो, प्रमोद बाबू अपने दाएँ हाथ की तर्जनी को मुट्ठी से निकाल कर उससे दृढ़ता के साथ अपने सामने का गगन-मंडल चीरते हुए कहते जाते हैं—कुछ चिन्ता नहीं, जो कुछ होगा, उसे देख लूँगा।

कुछ सोचते और कुछ कहते हुए वे एक गली से गुजर रहे हैं। धीरे-धीरे एक ऐसे मकान के सामने जा पहुँचे हैं, जिसमे बाहर पूर्व और पच्छिम की ओर छोटी-छोटी दो कोठरियाँ हैं। हवादार हैं, साफ सुथरी हैं और टेबिल, कुर्सी और टेबिल-रैक से सजी हुई हैं। विद्यार्थी-जीवन के उपयोग के लिए विशेष रूप से बनवाई गई प्रतीत होती हैं। इन दोनों कोठरियों मे एक-एक खिडकी सडक की ओर को भी बनी हुई हैं। खिडकी के बाहर की ओर उसी आकार की छोटी चिक टँगी है। उसकी तीलियाँ पतली और पीली हैं। चारो किनारों पर नीली कोर है। मकान की कुर्सी सड़क से काफ़ी ऊँची रखी गई है। इसलिए सड़क से इन खिड़कियों की

ऊँचाई भी मनुष्य की लम्बाई जितनी हो गई।

प्रमोद बाबू जैसे ही इस मकान की पच्छिम वाली खिड़की के सामने पहुँचे, वैसे ही सतरे का एक छिलका उनके ऊपर आ गिरा।

"अरे, छिलका आपके ऊपर जा पड़ा। माफ़ी चाहती हूँ इसके लिए। असल मे मैने आपको इधर आते हुए देखा नहीं था।" किसी ने जरा शरमाते हुए कहा।

प्रमोदशंकर इसी स्थल पर कहता आ रहा था—कुछ चिन्ता नहीं, जो कुछ होगा, उसे देख लूँगा।

अब उसकी कल्पना का प्रवाह रुक गया। उसका ध्यान भंग हो गया। उसने देखा—उसके सिर पर से सतरे का छिलका गिर कर उसके कोट से फिसलता हुआ उसके पैरों के पास आ गिरा। और उसी समय कोई उससे कुछ कहने लगा।

उसने एक बार खिड़की की ओर देखा और उसके भीतर से चिक को उठाए हुए किसी और को भी।

एक क्षण तक उससे कुछ कहते न बना, वह अपने आपको सम्हाल न सका। वह मोहक रूप और यह सरलता! भोले मुख का मीठा स्वर कितना प्रिय लगता है।

सतरे के छिलके को उसने झुक कर उठा लिया। एक बार उसी खिडकी की ओर देख कर उसने कहा—कोई हर्ज की बात नही। इसे तो मै सौभाग्य की बात समझता हूँ।

वह इतना कह कर उसे देखकर, उसकी कुछ मुस्कराती और कुछ लजाती हुई छवि को पलकों से प्रणाम करके आगे बढ़ता गया।

(२)

शरद बाबू के 'चरित्रहीन' फिल्म की बड़ी धूम है। देहला मे नवीन-भारत-पिक्चर-पैलेस का हाल भरा पड़ा है। फर्स्ट क्लास की दो सीट्स पहले से रिज़र्व करा कर शरत कुमार अपनी बहन के साथ आया हुआ है। परदे पर प्रारम्भ के परिचय-दृश्य, जिन्हें हम भूमिका-भाग कह सकते हैं, आ जा रहे हैं। किन्तु शरतकुमार की बहन ने देखा—उसकी बाईं ओर की एक सीट अभी तक ख़ाली ही है। कोई उसके उत्सुक कानों के भीतर कहने-सा लगा-जो कोई भी हो, जिन्होंने इसे रिज़र्व करा रखा है, वे हैं सचमुच बड़े लापरवाह। अभी तक आए ही नही।

और इसी समय कोई झट से आकर उस पर बैठ गया।

अरे! वह एक दम चौंक-सी पड़ी। वह सिमिट कर साड़ी से अपने शरीर को अच्छी तरह ढक कर एक बार प्रशांत हो गई।

किन्तु वह प्रस्तर-मूर्ति तो थी ही नहीं; थोड़ी देर बाद ऐसे अवसर हठात् आने लगे, जिनमे उसकी नजर उचट कर उस ओर जा पड़े।

और यही बात उधर भी थी, वह भी बीच बीच मे उसे देख लेता था। अन्त मे दोनो की अस्थिर जिज्ञासा परस्पर टकरा गई।

एक बार फिर कई हिलोरे आईं और गईं—आईं और गईं। वह लो, 'इंटर्वल' आ गया।

शरत कुमार बोले—तुम यही बैठी रहो, बडी भीड़ है; बाहर जाने और फिर लौटने मे तुम्हे तकलीफ़ ही होगी, होगी न? हाँ तो तुम यहीं रहो, मै अभी लौटता हूँ।

हाल योंहीं खचाखच भरा हुआ है और फिर लोग उठ उठ

कर बाहर जा रहे हैं। शोर-गुल होना ही चाहिए। हो कैसे न, आप किसी को रोक तो देखिये। आपके वही दोस्त जो 'एटीकेट' 'सिविलीजेशन' और 'डिसिप्लिन' के बड़े कायल हैं खीसें निपोर कर कह देंगे—अजी फिर यह तो हिन्दुस्तान है। हूँ, हूँ, अब इतना तो इसमे यह सब होना ही चाहिए।

और इसी गुल-गपाड़े मे एक ओर दो हृदयों मे परिचय हो रहा था।

"उस दिन तो आपका परिचय ही न पूछ पाया।"

"मुझे अपनी ग़लती पर दुःख रहा; आपने मुझे क्षमा कर दिया न।"

"ऊँह, वह भी कोई बात है!"

"क्यों नहीं।"

"छोडिए भी उसे और हाँ, तो क्या हैली-गर्ल्स स्कूल में?"

"जी—और आप?"

"मैं यूनिवर्सिटी का, बी० ए० फर्स्ट इयर का स्टुडेंट हूँ।"

"आपका परिचय पाकर खुशी हुई!"

क्या मैं आपका नाम भी जान सकता हूँ?"

"नाम? नाम जानकर क्या कीजिएगा? वह इन्ट्रेंस—डोर की ओर देखने लगी।"

"हर्ज ही क्या है?"

नतमुखी होकर, आँखों से इशारा करते हुए उसने कहा—"भाई जी आ रहे हैं।"

एक मीठी हँसी के साथ उत्तर मिला—'क्या हर्ज है, उनसे परिचय करा दीजिएगा।"

(३)

कुछ दिन बाद चाँदनी चौक की एक दूकान पर—

"थोड़ा-सा कपड़ा चाहिए।"

"तशरीफ रखिए। अच्छा, आप हैं; खूब मिले। लीजिए पान खाइए। अरे भई मुलुआ प्रमोदशकर जी को पान दो।"

"जी मै पान नहीं खाता।"

"माफ़ कीजिएगा, मै भूल गया था। लीजिए इलायची, हाँ, अब ज़रा इतमीनान से बैठ जाएँ।"

इलेक्ट्रिक-फ़ैन का मुँह उधर ही कर दिया गया।

"हाँ, अब बतलाइए, क्या क्या दिखलाऊँ ?"

"धोती जोड़े, कनानोर-काटन-क्लाथ, टेबिल-क्लाथ, और सिल्क।"

इस विषय मे और क्या क्या बाते हुई, शरतकुमार ने आज किस तरह कुल ५७||=)||| प्रमोदशंकर जी की पर्स से हँसी खुशी के साथ उड़ा लिए। ये सब बाजारू बातें हैं।

अन्त मे शरतकुमार ने कहा—"कभी कभी दर्शन दे दिया कीजिए। दिन भर यहीं रहता हूँ। शाम को अलबत्ता अकसर नही बैठता। उस वक्त मेरे चाचा साहब बैठते हैं।"

"मुझे वैसे पढ़ने से ही बहुत कम अवकाश मिलता है। परन्तु जब कभी तबियत ऊब उठती है तब घूमने या सैर-सपाटे

को निकलना ही पड़ता है। ऐसे समय पर आपसे भी मिलने का ध्यान रक्खा करूँगा।"

"तो आज सायंकाल आइएगा?"

"जी, आज तो एक जगह 'एँगेज़मेंट' है। हाँ, कल सन्डे है। कल आ सकता हूँ।"

"आ सकता हूँ नहीं, कहिए 'आऊँगा'। बस, आप दूकान पर आ जाइएगा। वहाँ से मुलुआ आपको मेरे घर पहुँचा देगा⋯ तो तब रहा न कल आपका आना, परन्तु, किस समय? ⋯हाँ, ठीक है, साढ़े पाँच बजे।"

(४)

धीरे-धीरे परिचय इतना घनिष्ट हो चला कि उस दिन प्रमोद यहीं सोया। वह यहाँ रात के १२॥ बजे तक ताश खेलता रहा और फिर यही सो रहा। सुबह हुआ लोग उठकर नित्य-कर्म मे लगे, परन्तु प्रमोद सोता रहा। परन्तु चाँदनी को तो बहुत सवेरे स्कूल जाना होता है। वह बहुत सवेरे उठी। स्कूल ले जाने वाली लारी पर जाते समय वह एक बार दुछत्ते पर भी गई। उसने प्रमोद को जगाते हुए कहा—"अजी उठते हो कि सोते ही रहोगे।"

वह तुरन्त उठ बैठा। उसके पलग के सिरहाने रक्खा हुआ फूलों का गजरा खुशबू की लहरें उड़ा रहा था। पंखा मंद गति से फर फर चल रहा था।

अपने बिखरे हुए और आगे की ओर झुके हुए बालो को पीछे को करते हुए प्रमोद ने कहा—"आज तुम्हारे स्कूल मे छुट्टी नहीं है।"

"मेरे स्कूल मे इतनी छुट्टियाँ नहीं होतीं।"

"तो आज न जाओ।"

"यह कैसे हो सकता है ?"

"हो क्यों नहीं सकता ? चाहो तो सब कुछ हो सकता है।"

ज़रा हँसकर उसने कहा—"जाओ तुम बड़े वैसे हो।"

प्रमोद ने भी इठला कर पूछा—"कैसे जी ?"

चाँदनी जाने को हुई तो प्रमोद उसका रास्ता रोकने को दरवाज़े की ओर बढ़ा।

यह देखकर चाँदनी ने जल्दी से जाना चाहा और हड़बडी मे उसकी साड़ी का किनारा चौखट की कील से अटक कर फट गया।

"अरे यह क्या हुआ ? अब !!!"

"तो फिर मानती क्यों नहीं हो; मेरा कहना ? कितनी देर से कह रहा हूँ, आज स्कूल मत जाओ।"

चाँदनी का मुँह जरा गंभीर हो गया। परन्तु उसने कहा—'अच्छा, तो नहीं जाऊँगी। अब तो हुआ।'

(५)

दो वर्ष बाद—

अब प्रमोदशँकर मेरठ के एक हाई स्कूल मे टीचर है। वह सदर बाज़ार के एक बंगले में रहता है।

उसके घर के आत्मीय लोगों को यही मालूम है। जो लोग आते हैं, उनसे वह मिलता है, तो वहीं मिलता है। नहीं तो, नहीं भी मिलता। वह एक हाई स्कूल में टीचर है, ट्यूशन भी उसे बहुत

करनी पडती है। शहर का खर्च ठहरा। नहीं तो१ २०) मासिक मे उसका निर्वाह ही कैसे हो सकता है। कारण, ५०) रुपये मासिक तो वह अपने पिता को ही भेजता है।

परन्तु, प्रमोदशकर प्राय: रात को और कभी-कभी दिन को भी चौक के और भी एक मकान मे रहता है। उसके जीवन की सरिता, उसके प्राणों की निधि, उसकी आत्मा की ज्योति' चाँदनी' वहीं रहती है—अकेली, नीरव, निश्चल गति से। उसने उसे वहीं ला रखा है।

प्रमोदशंकर के ये दिन बड़े आनन्द से कट रहे हैं।

परन्तु ये दिन उसने दिल्ली के एक सम्पन्न कुटुम्ब की मान-मर्यादा को मिट्टी मे मिलाकर, उसकी आँखों मे धूल झोंक कर देखे हैं। और इसके लिए उसे अपने जीवन को खतरे में डालना पडा है, सैकडो रुपए का मोह छोड कर उन्हे पानी की तरह बहाया है। उसका ख्याल है कि उसका यह त्याग कुछ कम मूल्यवान नहीं है।

× × × ×

प्रमोद के घर मे उसके भाई हैं, माता-पिता हैं। कई वर्ष से वे इस बात की पूरी चेष्टा कर रहे हैं कि प्रमोद विवाह कर ले, पर वह बराबर टालता जा रहा है। परन्तु अब वह इस बात को कहाँ तक टाल सकता है। अनेक बार प्रमोद की माता ने भी उसके साथ जाकर रहने की इच्छा प्रकट की, पर वह बराबर सुनी अनसुनी करके टालता रहा है। परन्तु वह अपनी माँ की इच्छा को और आगे कहाँ तक टाल सकता है।

आज प्रमोद ने खाना तो खा लिया, लेकिन कुछ अन्य-मनस्क भाव से। वह हर समय चुहुलबा‧ी मे निरत रहता आया है। हँसना ही उसका जीवन है। वह कहता है कि हँसते हुए उत्पन्न होओ, हँसते खेलते जीवन व्यतीत करो और एक दिन हँसते-हँसते हुए ही सदा के लिये बिदा भी हो जाओ। मानव-जीवन का यही चरम सुख है। परन्तु, आज प्रमोद स्वयं अपने इस सिद्धान्त को भूला हुआ है।

चाँदनी बोली—"अरे! आज तो तुम यों ही उठ गए! क्या कुछ तबीयत ख़राब है?"

"तबियत तो ख़राब नहीं है, लेकिन……।"

"लेकिन……क्या?"

"कुछ ऐसी ही बात है। अब क्या बताऊँ तुमको।"

"क्या मेरे जानने लायक नही है?"

"हाँ, यही समझो!"

प्रमोद पलंग पर लेट रहा। चाँदनी भी थोड़ा बहुत जो कुछ भी वह जबरदस्ती खा सकी खा-पीकर उठ बैठी। दस मिनट बाद वह भी उसी कमरे मे आ पहुँची।

इधर चाँदनी के हृदय मे हलचल मची हुई है। ऐसी कौन सी बात है जिसे ये मुझे बताना नहीं चाहते। और इधर प्रमोद अपने माता-पिता के आमत्रण को भी ठुकराना नहीं चाहता।

कोई उसके पापी मन मे हुंकार-सी उपस्थित कर बैठा। वह सोचने लगा—सारी तैयारी हो चुकी है, केवल मेरे पहुँचने भर की

देर है। पिता जी ने सारा प्रबन्ध कर रखा है। दिदिया को उस दिन कहते हुए सुना भी तो था। कह रही थी—"अम्मा, सच जानो, भाभी इतनी सुन्दर है, जैसे गुलाब का फूल।"

और चाँदनी सोचने लगी—इनका यह हाल आज कई महीनों से देख रही हूँ। जब कभी बातें करते हैं तो, मुझे भ्रम न हो, इसलिये ऊपर से हँस देते हैं। भीतर का प्यार चीज ही और है। उसे बताना थोड़े ही पड़ता है। वह तो छलकता हुआ प्याला-सा रहता है। प्यार की सचाई रोम-रोम से झलकती है। प्रमोद, जो अभी पलंग पर करवटें बदल रहा था, उठ बैठा। कुछ क्षणों तक वह चाँदनी की ओर देखता रहा। फिर एकदम बोल उठा—सुनती हो चाँदनी, तुमको दस दिन तक यहाँ अकेले रहना होगा। मुझे कल घर जाना है। पिता जी ने बुलाया है। कोई जरूरी काम है।

प्रमोद की दृष्टि इस समय चाँदनी के मुँह की ओर नहीं थी, उसकी मुद्रा बहुत गंभीर थी। वह द्वार की ओर देख रहा था। इतना साहस उसमें न था कि वह उसकी ओर देखकर यह बात कह सकता।

चाँदनी के हृदय में जैसे तीर-सा चुभ गया। वह एकदम अप्रातिभ हो उठी पर बोली नहीं। वह कुछ कहना चाहती थी, कुछ पूछना चाहती थी, पर मुँह खोलने को उसका जी न चाहता था। इतने सोच-विचार के बाद अब उन्होंने यह बात बतलाई है, अब चलने को कुछ ही घण्टे रह गये हैं। अगर इस यात्रा में कोई भेद नहीं है, तो इतना छिपाव क्यों है? यदि कोई वैसी बात नहीं है, तो सहज स्वभाव से ही समयानुसार यह बात क्यों नहीं कह दी गई।

फिर बात कहते मेरी ओर देखना तक इन्हे गवारा नहीं है। यह बात क्या है ? चाँदनी देर तक यही सोचती रही। उसे रात भर नीद नही आई। करवटे बदलते हुए उसने सारी रात बिता दी।

सवेरा हुआ। चिड़ियो की चहक सुनाई पड़ने लगी। प्रमोद चुप चाप उठा। ताँगा बुलवाकर असबाब उस पर लदवाने चल दिया। वह कुछ कह न सका। निष्ठुरता का भूत उसके सिर पर सवार था। वह रात से ही बारबार यही सोच रहा था - इतना अभिमान ! नारीत्व का अभिमान ही तो मै सहन नही कर सकता।

इधर चाँदनी इस प्रतीक्षा मे थी कि वे अब कुछ कहते है—अब कहते हैं। पर जब वह चलने ही लगा तो चाँदनी रोती-सिसकियाँ भरती हुई द्वार पर आ गयी। उसकी आँखे लाल थी उसके होंठ सूखे हुए, बाल बिखरे हुए थे। वह एक कपाट के सहारे खड़ी खड़ी रोती रही।

प्रमोद ने एक बार उनकी ओर देखा। वह सोचने लगा यही इनका आमोघ अस्त्र है। इसी को काम मे लाकर ये पुरुष जाति को सदा ठगती रहती हैं। किन्तु इसका यह पाखड प्रमोद पर नही चलेगा, नही चलेगा माता-पिता की कामना के आगे इस पाखंड विडम्बनी की ओर देखना भी पाप है—अपराध है।

प्रमोद ने ज्योही ताँगे पर पैर रखा, त्यो ही वह चल दिया।

चाँदनी से अब रहा न गया। वह रोती हुई दरवाजे तक चली आई थी। इसी समय वह बोली - "तो मेरे लिये क्या कहे जाते हो ?"

किन्तु ताँगा हवा से बाते करने लगा। प्रमोद अगर इसका

जवाब देने को रुकना है, तो उसकी गाड़ी भी तो छूट जाती है। वह घड़ी की ओर देखने लगा। एक बार जी मे आया कि वह कह दे—दस दिन बाद लौटूँगा। रोना-धोना बेकार है, पर तब तक ताँगा और आगे बढ़ गया। सोचा—उहँ, अब इतना टाइम ही कहाँ रह गया है ?

(६)

धूमधाम के साथ प्रमोद का विवाह हो गया।

अब फिर—प्रमोद के समक्ष नया ससार था। उसके जीवन के क्षण नव-पत्नी से बात-चीत, मनोविनोद तथा मनोभावों के आदान-प्रदान मे व्यतीत होने लगे। यदा कदा उसे चाँदनी की याद आ जाती थी पर वह उस ओर उत्तरोत्तर अन्यमनस्क रहने लगा था।

यों ही, दिन जाते देर नही लगती। पर आजकल तो आनंद के दिन थे। देखते-देखते दस दिन तो समाप्त हो गये। अन्तिम दिन जब प्रमोद के चलने की सारी तैयारियाँ हो चुकी थीं और जब वह चलने को उद्यत होकर चल ही दिया तब यकायक एक अशगुन हो गया। सामने ही एक गाय ने छींक दिया। पडितो से पूछा गया। उन्होंने बतलाया कि गाय की छींक कालरूप मानी गई है। निदान विवश होकर यात्रा स्थगित करके तार देकर, एक सप्ताह की छुट्टी और बढवा लेनी पड़ी। इस समय प्रमोद को एक बार चाँदनी की याद आ गयी। एक बार उसके जी मे यह भी आया कि उसको भी एक पत्र लिख दूँ। पर उसने सोचा, पत्र लिखने से क्या होगा ? अब कौन बहुत दिन रहना है। एक सप्ताह

तो रहना ही है। फिर अब यह पचड़ा जितनी जल्दी अपने से पृथक हो जाय, उतना ही अच्छा।

पलक मारते एक सप्ताह और कट गया।

नवपत्नी का नाम था किशोरी। और किशोरी थी भी अपने नाम के अनुरूप ही। उसके रूप मे अद्भुत आकर्षण था। उसकी आँखो की धार हृदय को छूती थी और उस का मुसकराना—जीवन के उद्यान मे गुलाब के फूल बिखेर देता था।

प्रमोद एक सप्ताह के अनन्तर मेरठ चला तो आया; पर अपनी नवभार्या के वियोग मे निरन्तर अगम गभीर रहने लगा। वह दिन व्यतीत हो गए। पर वह चाँदनी से मिलने न गया, तो नही ही गया। कुछ दिनों बाद, जब उसकी नवपत्नी, बिदा हो गयी, तब एक दिन जो चाँदनी के यहाँ गया था, तो देखा मकान खाली है।

उधर चाँदनी के जीवन मे मातृत्व के उदय के चिह्न प्रकट हो रहे थे। सहज लज्जावश उसने इस रहस्य को प्रमोद से छिपा रखा था। वह दिन पर दिन कृशकाय, पीतवर्णा तथा विषादमयी हो रही थी। उस पर यह नई आपत्ति और आ पड़ी। उसके प्राणाधार ने भी उसे छोड दिया था। ज्यो-त्यों करके यह अपने दिन काट रही थी। उसे इस बात की पूरी आशा थी कि वह पुत्र-जन्म से निवृत्ति पाकर अपना स्वास्थ पुनः प्राप्त कर लेगी और उसके जीवनामृत प्रमोद फिर उसे अपना कर नवोल्लास के साथ एक लीला मय संसार की सृष्टि करेंगे। परन्तु, अब यह हो क्या गया! वे दस दिन मे लौटने को

कह गये थे। पर आज पूरा एक मास हो गया और वे लौटे नही। कोई संदेश तक उन्होंने नहीं भेजा—कोई पत्र तक नही लिखा। धीरे धीरे उसने अपने प्रियतम के पुनरागमन की आशा छोड दी। कई सप्ताह उसने रो-रो कर बिताए। वह अनेक दिन निराहार रही, पर वह करती तो क्या करती। वह अपने प्राण तो बात की बात मे उत्सर्ग कर सकती थी, पर अपने शरीर मे पलने वाली जीवन-धारिणी नवीन आत्मा का बलिदान वह कैसे करती!

और तिस पर हिन्दू नारी थी। पढी-लिखी पुनर्जन्म मे विश्वास रखने वाली। उसकी भूखी शक्ति जाग उठी। अपने शरीर से वह अवश्य अशक्त थी, पर उसकी विचार-शीलता मर थोड़े ही गई थी। उसके पास पैसों की कमी न थी। वह डेढ हजार रुपये का माल अपने साथ लाई थी। अनिश्चित काल और संकट पूर्ण परिस्थित पर उपयोग मे आने के लिए उसने इसे सुरक्षित रख छोड़ा था। इसी के आधार पर धैर्य के साथ वह जीवन व्यतीत करने लगी।

और तीन मास बीते। चाँदनी ने पुत्र प्रसव किया। प्रसव-काल आने पर वह अपनी नौकरानी के साथ हास्पिटल चली गई। इस बीच प्रमोद उसका घर खाली पाकर लौट गया। पुत्र जन्म सकुशल हो जाने पर वह फिर अपने मकान पर लौट आई। दो-ढाई मास उसने अपने स्वास्थ सुधारने मे लगाए और तदनंतर प्रमोद की ओर से निराश होकर वह एक दिन इलाहाबाद चली आई। यहाँ क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज मे सम्मिलित होकर वह फिर अध्ययन मे लग गई। बच्चे

का नाम रक्खा गया नवीनचन्द्र। वह अपनी माता के नवीन संसार मे पल कर पूर्ण स्वास्थ्य के साथ जीवन के पग आगे बढाता गया।

कुछ ही दिनों मे चाँदनी ने अपनी योग्यता, अध्ययन, तत्परता और निर्मल चरित्र के बल पर कालेज के बोर्डिंग मे अपने लिये एक सम्मान का स्थान बना लिया। समय निकाल कर उसने दो तीन सम्मानपूर्ण ट्यूशन भी कर लिये। इस प्रकार उसकी जीवन-धारा उत्तरोत्तर प्रवाहशील होती गयी।

(७)

मनुष्य वासनाओं का अनुचर है। वह अपने निजी संसार का निर्माण करते हुए सदा अपने बाहुबल का भरोसा रखता है। ईश्वर की ईश्वरता मूर्तिमयी होकर उस समय उसके सामने या तो आती नहीं, या वह उसे भ्रम से, प्रमाद से— अहंकार और दंभ से, अपनी सामर्थ्य के सामने क्षीण समझने लगता है। पर, सोचने की बात यही है कि मनुष्य कितना परवश है।

× × × × ×

प्रमोद आज फिर विधुर है।

किशोरी ससुराल से अपने पिता के घर आते-आते क्षय रोग से आक्रांत हो गई। दूसरे वर्ष जब प्रमोद के पिता उसका गौना लेने का विचार कर रहे थे, तो एकाएक एक दिन उसके स्वर्गवास का संवाद पाकर स्तम्भित होकर रह गए।

अब तो प्रमोद के जीवन की गति-विधि मे विपर्यय उपस्थित हो गया। वह अनुताप की अग्नि मे जलने लगा। उसके आहार और रहन-सहन का क्रम अनियमित हो गया। पिता ने बहुत समझाया, बेटा यह तो संसार है। यहाँ तो यह सब हुआ ही करता है। तुम इतने उदास भला क्यों होते हो। इसी वर्ष वैशाख मे मै तुम्हारा दूसरा विवाह कर दूँगा। निराश होने की जरा भी ज़रूरत नही है। पर, प्रमोद के हृदय मे किस प्रकार हाहाकार हडकंप मचा रहा था, यह कौन समझ सकता था। बारबार वह यही सोचने लगता—यह मेरे ही कर्मों का फल है। मैंने चाँदनी को धोखा दिया—और ईश्वर की ईश्वरता ने किशोरी के द्वारा मुझे उसका बदला दिया। उसे किशोरी के स्वर्गवास का अब उतना दुख नही था। उसकी मृत्यु तो स्वाभाविक ही थी। पर चाँदनी के साथ उसने जिस प्रकार व्यवहार किया, उसके कारण, अपनी चरम नरपशुता के कारण वह पश्चाताप की अग्नि मे जल रहा था। वह खाने को बैठता तो चाँदनी का रोता-सिसकता हुआ मुख उसके सामने आ जाता था। उसके यह शब्द—"मेरे लिये क्या कहे जाते हो?" उसके कर्ण-कुहर को विदीर्ण करने लगते थे। जिधर वह देखता, उधर स्वप्न के कल्पित पट पर चाँदनी ही चाँदनी दीख पड़ती थी। बारबार उसे यही भ्रम होता, जैसे रात हो गई है। आधी रात का सन्नाटा है। वह ताँगे पर सवार होकर चल रहा है। और चाँदनी सिसकियाँ भर कर, रोकर, चिल्ला कर, कह रही है—"तो मेरे लिये क्या कहे जाते हो?" प्रमोद कभी-कभी विक्षिप्त-सा हो जाता, सोते-सोते वह एकदम से उठ बैठता और अपने कमरे मे टहलने लगता। वह अपने दुष्कर्म की मीमासा करने लगता। वह सोचता यदि मै अपनी कथा किसी से कहूँ तो क्या वह उस पर

विश्वास करेगा। क्या वह यह सोचेगा कि मनुष्य यहाँ तक पतित हो सकता है। और यदि कोई व्यक्ति अपनी इस प्रकार की कथा मुझ से कहता, तो क्या मुझे उस बात पर विश्वास होता। सचमुच क्या मै यह मान लेता कि कोई व्यक्ति इतना नीच हो सकता है। क्या वह अपनी वासना की पूर्ति के बाद अपनी प्रियतमा को उपेक्षा के गर्त मे ढकेल कर क्या विवाह कर सकता है। कभी नहीं! कभी नहीं!! और हाय! मैने वही किया!!!

रात के १॥ बजे हैं और प्रमोद यही सब सोचकर रो रहा है। रोते हुए उसे बडी देर हो गई है। उसके माता-पिता उसके निकट बैठे हुए उसे समझा रहे हैं। पर प्रमोद का रोना बन्द नहीं होता है, सिसकियाँ एक के बाद दूसरी आ जा रही हैं। वह आज जी भर कर रो लेना चाहता है। आज वह रोते-रोते निश्चेष्ट, चिर-स्थिर हो जाने तक की गति चाहता है। पर कहाँ? ऐसा भी क्या हो सकता है? अन्त मे प्रमोद को रोना बन्द करना पड़ा। रोते-रोते उसकी आँखे सूज गई, पुतलियाँ रक्त-वर्ण हो उठीं और उसका जी भी कुछ हलका हुआ। थोड़ी देर मे वह सो गया और बड़ी देर तक सोता रहा। कई दिन से वह सो भी तो नही सका था।

आज प्रमोद नौ बजे सोकर उठा। उठकर उसने झट से स्नान किया। तदन्तर उसने भगवान के चरणों मे मन लगाया। पूजा के लिये वह आसन बिछवा कर बैठ गया। पहले उसने रामायण पढ़ी। फिर गायत्री मंत्र का जाप किया। डेढ़-घण्टे मे उसकी पूजा समाप्त हुई। तब स्वस्थ चित्त होकर उसने भोजन किया। भोजन करके वह फिर सो गया। सोकर उठा और मकान के बाहर एक ओर को चला गया।

तब से फिर प्रमोद नही लौटा। बहुत खोज की गई, पर, कही उसका पता न चला।

(८)

कई वर्ष व्यतीत हो गये।

माघ शुक्ला प्रतिपदा का दिन है। माघी अमावस्या का अगला प्रभात। प्रयाग के त्रिवेणी-संगम पर जितनी भीड कल थी, आज उतनी नही है। क्रास्थवेट गर्ल्स-कालेज की अनेक छात्राएँ एक बोट पर सैर-सपाटे को निकली हैं। एक मात्र स्नान करने की ही कामना से इनका शुभागमन यहाँ नही हुआ है। मुख्य हेतु मनोरंजन है। आपस मे चुहलबाजी चल रही है। किसी का नाम है निरुपमा, किन्तु उसकी सहेलियाँ उसे निरू कहती है। किसी का नाम है मल्लिका, पर उसे कहा जाता है लकी। कभी-कभी कोई-कोई इसे बिगाड कर लकी भी कहने लगती है। इनमे चाँदनी भी आई हुई है।

गऊ घाट से नाव की गई थी। अब वह किले के समीप थी। निरू बोली—मैना! अरी ओ मैना!

यह नाम मृणालिनी का रक्खा गया था, पर वह उसे पसन्द न करती थी। उसे इस नाम पर चिढ थी। और इसीलिए वह इस नाम से पुकारने या संबोधन करने पर बोलती न थी।

निकट बैठी हुई निरू ने उसकी चुटकी काट ली और लकी की ओर मुँह फेर लिया।

गम्भीर होकर मृणालिनी बोली—मुझे ये बातें पसन्द नहीं हैं निरू।

लकी ने मुसकराते हुए उत्तर दिया—"तो जो जो बातें आप को पसन्द हों वही की जायँ? पर पहले से उनकी जानकारी भी तो होनी चाहिए। ··यह लो मैंने नोट-बुक निकाल ली, अपनी पसन्द की बातें मुझे नोट करा दो।

निरू बोली—"हाँ, कृपया.. ।" कथन के साथ वह कनखियों से हँसती भी जाती थी।

चाँदनी अब तक चुप थी। अब वह भी कहने लगी—"हाँ, मेरी प्यारी मैना, कह तो सही, अभी कह, तेरी इच्छा क्या है—तू चाहती क्या है?"

अब सब के अधर-पल्लव खिल उठे।

इसी क्षण निरू बोली—"अब आप लोग गम्भीर हो जायँ। मैं प्रस्ताव करती हूँ कि आज सभानेत्री का स्थान गंभीरमना श्रीमती मृणालिनी देवी स्वीकार करें।"

लकी बोल उठी—"मैं इसका अनुमोदन करती हूँ।"

चाँदनी बोली—"और मैं समर्थन।"

शिशु नवीन चन्द्र चाँदनी के पास ही बैठा हुआ था। वह भी बोल उठा —"मैं बी इछता छमलथन कलता हूँ।"

मृणालिनी का रोआँ रोआँ बिहँस उठा। नवीन को उसने गोद में भर लिया। उसकी चुम्मी लेती हुई बोली–तू बड़ा राजा बेटा है।

चाँदनी वात्सल्य सुख की लहरियों मे ओत-प्रोत उठी। नाव पहले प्रवाह की ओर थी। धीरे धीरे अब वह संगम के निकट जा पहुँची ।

इसी समय दैवयोग से उसी नाव के निकट एक दुर्घटना हो गयी। कोई एक साधु जो वहाँ नहा रहा था, डूबने लगा। किन्तु उसे डूबते हुए कुछ लोगों ने देख लिया। अन्त मे दो मल्लाह उसकी ओर बढ़े और उसे निकाल लाये। तदन्तर लोग उसे सेवा-समिति के हास्पिटल मे लाये।

निरू बोली—"उँह, ऐसा तो होता ही रहता है। चलो हम लोग भी अब नहा ले।"

लकी ने कहा—"हाँ, समय का भी ध्यान रखना है। आज चार बजे से हिन्दू संस्कृति पर महामना मालवीय जी का भाषण भी तो सुनना है।

मृणालिनी भी कपड़े उतारने लगी। सभी छात्राओं ने मिलकर खडे-खडे एक वृत्त वना लिया। देर तक सब की सब खूब स्नान करती रही।

स्नान के अनन्तर सभी छात्राएँ मेला देखने को चल पडी। सेवा-समिति के हास्पिटल के निकट पहुंची, तो लकी बोली—"चलो, यहाँ की व्यवस्था भी तो देख ले।"

निरू कहने लगी—"यहाँ क्या देखोगी? यहाँ देखने को है ही क्या?"

लकी ने उत्तर दिया—"वाह! देखने को क्यों नही है?

अपने देश की एक सुसंगठित सर्वमान्य संस्था के लिये ऐसा कहना अनुचित है। फिर और कुछ भी चाहे न देखो, पर इस बात का तो पता लगा ही लो कि आखिर उस महात्मा का क्या हुआ ?

निरू बोली—"हाँ, यह तुमने ठीक कहा। बेचारे कहीं टे न बोल गये हों।"

तब उस महात्मा जी की खोज मे सभी छात्राएँ चल पड़ीं।

(६)

आयु ऐसी अधिक नहीं है, यही तीस, बत्तिस के लगभग जान पडती है। सम्भव है, और भी कम हो। वर्ण गोरा है, शरीर कृश, दाढ़ी के बाल भी अभी अधिक बढ़ नही पाये हैं। सिर पर जटाजूट भी नही है। चोटी और यज्ञोपवीत का भी पता नही है। आँखे बन्द किए पड़े हैं, ज्वर हो आया है। कभी-कभी कुछ बड-बडाने लगते है।

एक स्वयंसेवक कह रहा था—"बड़े विद्वान है, जीवन, मृत्यु और पुनर्जन्म पर इधर कई दिनों से इनके भाषणों की धूम मची हुई है। अँगरेजी भाषा पर भी पूरा अधिकार है।"

दूसरा कहने लगा—"पर एक बात बडी विचित्र जान पड़ी। जब मै इनकी भीगी लुंगी इनके शरीर से निकालने लगा, तो इनकी कमर मे बँधी हुई—कागजों मे लिपटी हुई एक सुन्दर छोटी 'पर्स' निकली। पर उसमे रुपया-पैसा तो कुछ निकला नहीं। निकली

क्या—एक नाचीज, जिसका कोई मूल्य नही।

× × × ×

चाँदनी सशंकित हो उठी। बड़े ध्यान से वह स्वयंसेवकों की ये बाते सुन रही थी। अन्तिम शब्द सुनते सुनते उसके हृदय मे एक हलचल मच गयी। उसके मुख की लालिमा मन्द होते-होते श्वेत-सी होने लगी। अपलक दृष्टि से उस समय वह उन महात्मा को देख रही थी।

इसी समय उस स्वयंसेवक ने एक पर्स से एक चीज निकाल कर उसे -मीन पर पटकते हुए कहा—यही तो है वह 'संतरे का छिलका।'

पर उस समय तक चाँदनी मूर्छित हो चुकी थी।

प्रतिघात

मैने फिर उस दिन, तुम्हारे यहाँ, न तो सवेरे की चाय पी, और न कुछ खाया पिया। मै चुपचाप एक कमरे मे पड़ा रहा। सो तो नहीं सका, किंतु जान पड़ता है, अधिकाँश व्यक्तियों ने समझ यही रक्खा था कि प्रगाढ़ निद्रा के कारण ही मै उठ नहीं रहा हूँ। हाँ, किरण सवेरे से लेकर नौ-साढ़े नौ बजे तक कई बार मेरे निकट आई। उसने दो-एक बार पलंग के निकट खड़ी होकर मुझे बुलाया—दद्दा! दद्दा! किंतु जब मैने कोई उत्तर नही दिया, तो फिर उसने मुझे झकझोरा भी। कई बार हिलाया-डुलाया। लाचार होकर मैने मौन भंग करते हुए केवल इतना कहा—मुझे भूख नही है। कुछ भी खाने की इच्छा नही है। तू व्यर्थ मुझे क्य परेशान कर रही है!

मेरे इस शुष्क कथन पर वह थोड़ी देर के लिये कुछ अप्रतिभ-सी हो गई। किंतु लगातार कई मिनट तक चुपचाप, ज्यों-की-त्यों, स्थिर खडी रहकर, अंत मे पलटा खाकर, वह थोड़ी मुस्कराई, और बोली—तो फिर दिदिया ने कहा है कि उपवास करने के लिये मेरा घर नही है। आए ही हो, तो मेहमान की भाँति, हम लोगों की रुचि के अनुसार, ठीक तरह से रहो...।

वह आगे शायद यह भी कहना चाहती थी कि 'नही तो चले जाओ।' किंतु उसकी बात के इस अशिष्ट अंश को अपने

निकट तक न लाने देने के अभिप्राय से मैंने उसी क्षण कह दया कि अपनी दिदिया से जाकर कह दो— उनके आदेश का खयाल करके मै अभी तुरन्त यहाँ से चला जाता हूँ।

किरण तब अत्यधिक गंभीर हो गई, मैंने लक्ष किया कि यदि मै इतना कहने के पश्चात् वास्तव मे तुरंत चल ही दूँ, तो उसी क्षण उसकी आँखे भर आएँगी। कुछ क्षणों तक, नमित दृष्टि से, सकुचाई हुई, वह मौन भाव से, ज्यों-की-त्यों, खडी रही, और मै बराबर यही सोचता रहा कि अब यह कहने ही वाली है कि इतनी जल्दी आप न जायँ। किंतु प्रकट रूप से उसने मुझसे किसी प्रकार का कोई आग्रह नही किया, यद्यपि आज मै सोचता हूँ कि उसके एक बार के भी आग्रह को मै किसी तरह टाल नहीं सकता था, किंतु उस समय न तो उसकी अंतरात्मा की पुकार को ही मै समझ सका, न उसके भाव-गर्वित उस मूर्तित मौन को। अगर कुछ समझ सका, तो केवल यह कि वह नही चाहती कि मैं इसी तरह से चला जाऊँ। इसके सिवाय मुझे यह भी प्रतीत हुआ कि प्रभा की बात को यथार्थ परुप रूप मे कह देने के कारण उसे बड़ा खेद हो रहा है। किंतु यह विचार भी एक क्षण से अधिक मेरे अंतःकरण मे टिक न सका, और फलत मैं उठकर चल दिया।

वास्तव मे उस समय मै अत्यधिक भावोद्रेक मे था। मै नहीं जानता था कि जो पथ मैं ग्रहण कर रहा हूँ, वह मेरे लिये किसी प्रकार प्रशस्त नहीं हो सकता। मेरे सामने तो प्रभा के इस व्यवहार की प्रतिक्रिया-मात्र थी। मै तो येन-केन-प्रकारेण उसे प्रतिहत करना चाहता था।

चलते हुए मै केवल यही सोचता था—माना, तुम एक

सौभाग्यशाली नारी हो, तो क्या तुम किसी अभागे, संतप्त व्यक्ति का इस भाँति अपमान करोगी ? माना, तुम्हारे अमित वैभव के राज्य मे कोई भी व्यक्ति पेट की ज्वाला से अपने आपको ताप-दग्ध कर-कर के अनुताप शमन नही कर सकता। माना कि तुम पवित्रता की प्रतिमा हो, और आदर्श तुम्हारी ही मुट्ठी मे बंद रहकर प्रत्येक पग-चालन प्राप्त करता है, तो भी क्या यह उचित है कि किसी भ्रमित पथिक को सुमार्ग-प्रदर्शन के मोह मे डालकर, तुम धक्का देकर अग्रसर करने का दुःसाहस कर सको !

मै चला ही आया। मेरे पैर आगे पड़ते गए। मैंने फिर पीछे फिरकर उस घर की ओर क्या उस मुहल्ले तक की ओर नही देखा। मेरे सामने तो केवल एक बात थी, और वह बस इतनी-सी कि मुझे चला जाना है, जिस तरह भी हो सके, चला ही जाना है।

× × ×

तुम बड़े भले आदमी हो। तुम्हारा मुँह भी बड़ा खूबसूरत है। तुम पूछते हो कि प्रभा से तुम क्या संबंध रखते हो ! खूब रही !! अच्छा, तुम्ही बतलाओ, प्रभा तुम्हारी कौन होती है ?

अक्खा ! बड़े गर्व से तुम कह रहे हो—धर्म-पत्नी !

हॉ-हॉ तुमने अपने बड़े-से-बड़े नाते और अधिकार अस्त्र और अनुशासन, वैभव और बड़प्पन का परिचय दे डाला। बधाइयॉ ! लेकिन भाई-जान, जरा मुझे समझा तो दो कि प्रभा ने जीवन के किस क्षण मे यह अनुभव किया है कि तुम उसके स्वामी हो ! जरा बतलाओ तो सही कि स्वामित्व की कौन

सी ऐसी स्थिति है, जिसके तुम अधिकारी बन सके हो? क्या तुम उसके हृदय के साथ अपने हृदय के अणु-अणु का मिलन कर सके हो। क्या तुम्हारे प्यार और उत्सर्ग का क्षेत्र कभी इतना विस्तृत हुआ कि वह क्षण-भर की भी एक सुखनिंदिया ले सकती? अपनी आत्मा के एकांत क्रोड मे निमेष-मात्र को भी क्या तुम उसे सुला सके? क्या तुमने कभी यह समझने की चेष्टा की कि शरीर का रक्त-मास, उसका हृत्पिड, उसके प्राण का प्रत्येक स्पंदन विश्व-प्रकृति की किस प्रेरणा से अनुप्राणित होता है?

तुम चुप हो, क्योंकि तुम्हारे पास इन बातों के उत्तर मे केवल एक बेहूदी बेशरमी है। हाँ, यह भी मै मानता हूँ कि दाँत निकालकर हँस देने मे भी तुम अपना मनुष्यत्व प्रतिपादित करना सीख गये हो। किंतु मै कहता हूँ—मैं तुम्हे सावधान कर देना चाहता हूँ कि तुम सम्हल जाओ, सावधान हो जाओ। तुमने उस मनुष्यत्व का अपमान किया है, जो इस अखिल सृष्टि के कल-निनाद का एकमात्र प्रेरक अक्षय तत्व है। तुमने प्रभा पर संदेह किया, उसके कमनीय, कलेवर पर बेतों की वर्षा की, उसका लहू बहाया, और उस किरण को भी अपमानित किया, जो दुग्ध की भाँति उज्ज्वल, ओस-कण की भाँति निरी द्रष्टव्य और तीर्थ-रेणु की भाँति वंदनीय है! ...पशु कही के।

ऐ! क्या कहा!! मै लंपट हूँ, मेरी बातों मे वासना की बू आती है!

उत्तर मे मै तुम्हे कोई सफाई नही देना चाहता। मै नही चाहता कि तुम्हारे आगे अपनी कोई तसवीर खड़ी करूँ। मै तुम्हारी प्रशसा का भिखारी नहीं हूँ। किंतु नही, मै तुमसे कुछ

छिपाना भी नहीं चाहता। मै नही चाहता कि अपने अभिमान के मद मे तुम्हारे सामने मै अपनी स्थिति तक न साफ़ करूँ। किसी को भ्रम मे रखना अच्छा नही होता। अक्सर लोगों मे गलतफहमी हो जाती है। कुछ लोग इस प्रकृति के होते है कि ग़लती नही करते, मगर चूँकि आरोप उन्ही पर लद जाता है, इसलिये झुँझला उठते है—जिद मे आकर अपनी सफाई तक देना उन्हे स्वीकार नही होता। मै मानता हूँ, मुझमे यह बुरी आदत रही है, लेकिन अब मै ऐसी ग़लती न करूँगा।

मै मानता हूँ, सचमुच प्रभा मेरी कोई नही है। लेकिन खेद के साथ मुझे यह भी बतला देना पड़ेगा कि अगर मै चाहता, तो प्रभा मेरी हो सकती थी। बस, यही एक भावोद्वेलन मेरे हृदय मे आज बीस वर्ष से रहा है। मै आदर्श प्रेमी नही हूँ, क्योंकि घुल-घुलकर मृत्यु के घाट उतरने-जैसा चरम त्याग मेरे लिये संभव नही हो सका। किंतु अपने उस स्वरूप का परिचय मै कैसे दूँ कि किसी एक हृदय का नही, तृण तक का उत्सर्ग मुझे कभी-कभी कितना प्रभावित कर डालता है। बहुत दिनों की बात है, प्रभा के एक उपहार ने मेरी जीवन-सरिता की प्रशांत जल-धारा को अतिशय क्षुब्ध कर डाला था। वह उसका आत्मसमर्पण था। अपनी यथार्थ स्थिति का परिचय उसने अपने एक पत्र मे दिया था। मेरे पास वह पत्र अब तक सुरक्षित है। पर मै उसे तुम्हे दिखला नही सकता। उसके साथ एक पवित्रात्मा का इतिहास है। तुम्हारे हाथ मे देकर मै उसका अपमान नही करना चाहता। मै जानता हूँ, अवसर आने पर तुम उसकी बाते लेकर प्रभा का उपहास कर सकते हो। आह ! तुम क्या जान सकोगे कि प्रभा

किस कोटि की रानी है ? तुम तो स्त्री को खरीदा हुआ जानवर समझते हो !

उस समय तुम्हारा विवाह नही हुआ था। उसकी बात चीत भी नहीं चली थी। उसी समय मैंने प्रभा को देखा था। एक-आध बार उससे मेरी कुछ बातचीत भी हुई थी। इसके बाद ही मेरे माता-पिता के पास इसी संबंध का एक संदेश आया था। पिताजी सहमत थे, किंतु अम्मा ने मुँह बिचकाकर कह डाला था—मेरा सुरेश इस तरह मुफ्त मे ठगाया नही जा सकता। व्यवहार का काम तो व्यवहार ही से चलता है। रुपए की जगह, सभी अवसरों पर, कोरी आत्मीयता काम नहीं देती।

मै चाहता, तो अम्मा की बात का तीव्र विरोध कर सकता था। किंतु मैंने जान-बूझकर ऐसा नही किया। इसका कारण है। बात यह है कि मै यह मानता हूँ कि प्रत्येक माता-पिता की, अपने बच्चों के लिये, कुछ-न कुछ विशेष गौरव-पूर्ण साध होती है, क्योंकि वे उनके लिये अपने जीवन की प्यारी-से-प्यारी इच्छाओं का उत्सर्ग करते हैं। और, मै जानता था, अम्मा ने मेरी पढ़ाई मे अपने अनेक आभूषण तक बेच डाले है, इसीलिये मैं चुप रह गया।

मै सिर्फ़ चुप ही नही रह गया, वरन् मैंने अपनी अभिलाषा के संकेतों तक को स्पष्ट नही होने दिया।

उसके बाद फिर यह आज का दिन है। कितने वर्ष बीत गए, कुछ पता भी है तुम्हे ! लेकिन, कभी किसी से भी, मैंने अपनी अभिलाषा को प्रकट नही किया। मै सदा से ही बडा अभिमानी

रहा हूँ। मैने सोच लिया था कि चाहे जो कुछ हो, अपने इस विषाद को कभी खुलने न दूँगा। मै समझता था, यह निरी अपनी ही बात है, अपने ही वश की है। इसे भूल जाने मे क्या लगेगा? किंतु जीवन ज्यों-ज्यों आगे बढ़ाता गया, बराबर मैं यही अनुभव करता गया कि यह तो जीवन-मरण की एक समस्या है। इसे भुलाया कैसे जा सकता है।

इसीलिए मै तुम्हारे यहाँ गया था। मेरा उद्देश्य बुरा न था। मै तो सफ़ाई चाहता था। मै चाहता था कि प्रभा से मेरी जिन वस्तुओं (उपहारों) का आदान-प्रदान हुआ है, उन सबको हम लोग एक दूसरे से लौटाकर सदा के लिये निश्चिंत और निर्लेप हो जायँ। किंतु ऐसा कहाँ हो सका। उसने मेरे इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। उसने कहा, ऐसा कैसे हो सकता है।

अच्छा, मै आपसे ही पूछना चाहता हूँ कि ऐसा क्यों नही हो सकता? देखो, चुप मत रहो, मेरी बातों का उत्तर देते चलो,...मै तो बिलकुल तैयार होकर गया था। मेरे पास उसकी सभी चीजें सुरक्षित रूप से मौजूद थी। मै उन सबको उसके पास लेकर गया था। मैने उसे उन सबको एक-एक करके दिखलाना शुरू किया, तो उसकी आँखे भर आई। मैने देखा, उसे अत्यधिक व्यथा पहुँचाना मेरा उद्देश्य नही हो सकता, तब मैने उन चीजों को दिखलाना बंद कर दिया। लेकिन इससे क्या? मुझे उन सब उपहारों को किसी तरह अपने पास नही रखना है। उन्हे मै अपने पास रख ही कैसे सकता हूँ, मै भला हूँ या बुरा। दो मे से एक ही तो हूँ। क्योंकि वह तो एक प्रकार की

कायरता हुई। फिर जिन वस्तुओं ने मेरे जीवन को एकदम से नग्नप्राय कर डाला, उन्हे अपने पास रखकर मै करूँगा क्या ? जब प्रभा से मेरे जीवन का कोई संबंध नहीं है, तब उसकी भेट की हुई वस्तुओं का मेरे साथ क्यों सम्बन्ध हो ? न तो इसमे मै कोई बैर-विरोध देखता हूँ, न कोई मनोमालिन्य। यह तो एक सिद्धात की, एक दृढता की, एक वीरता और पुरुषार्थ की बान है। इसके लिये तो हममे गर्व होना चाहिए।

अभिलाषाओं के मोह को मनुष्य अपने गले की फॉसी बनाकर क्यों रक्खे ? इनसे यदि जीवन को स्फुरण या उल्लास नही मिलता, तो उनके संपर्क से मुक्त हो जाना ही श्रेयस्कर है। बतलाओ, जरा बतलाओ प्रकाश बाबू, मै इसमे क्या ग़लत कहता हूँ ?

ओह ! तुम अब भी चुप हो। इतनी बाते—खरी और खोटी, भली और बुरी, शात और उत्तेजक—मैने तुमसे कह डाली, किंतु तुमने मेरी किसी बात का उत्तर नहीं दिया ? बतलाओ, आखिर इस मौन-धारण का क्या अभिप्राय है ?

तुम मेरी ओर बडे ध्यान से देख रहे हो ! क्या तुम मेरे शरीर को देखते हो ? क्या आप समझते है कि मै अत्यधिक दुर्बल हो गया हूँ, इसलिये तुम्हारी दया का पात्र हूँ ? हॅ-हॅं, मै इतना क्षुद्र नही हूँ मिस्टर प्रकाशचन्द ! मै मनुष्य हूँ, लौहस्तंभ हूँ, पाषाण-शिला हूँ। मै इस विच्छेद को पी गया हूँ। मैने इतना सहन किया है, तो आगे भी जो कुछ आएगा, सहन करूँगा। किंतु मै मरूँगा नहीं, प्रकाश भाई, मै मृत्युंजय हूँ।

मेरे शरीर मे क्या तुम किसी प्रकार की उष्णता का अनुभव कर रहे हो ? किंतु वह तो अत्यधिक स्वस्थता की द्योतक है। प्रत्येक डाक्टर से मैंने यही कहा है कि यह कोई टेपरेचर नही है। और, एक बड़ी विचित्र बात यह है मिस्टर प्रकाश कि डाक्टर लोग बड़े हैरान हैं। वे कहते हैं—इतना प्रोलांग करने का स्पष्ट अर्थ है जीवन। इस मर्ज का कोई मरीज, मै नहीं जानता, इतना प्रोलांग कभी कर सका है !

इसका कारण क्या है, जानते हो ? इसका कारण एकमात्र मेरा आत्मविश्वास है। इसीलिये मै चाहता हूँ कि तुम मुझे थोड़ा-बहुत समझ सको। यह टेपरेचर भी इस समय तुम मुझमे न पाते, यदि इस वक्त यहाँ तसरीफ़ न लाते, और उसका ऐसा संवाद न देते।

लेकिन ओह ! तुमने प्रभा को बेंतों से पीटा है, तुमने उस पर प्रहार किये है, उसे कुलटा कहा है, और साथ-ही-साथ तुमने किरण को गाली देकर उसका अपमान किया है, और तारीफ़ की बात यह है कि तुम खुद मेरे पास यह सब समाचार लेकर आए हो। तुम मुझे समझते क्या हो प्रकाश, आह ! मै तुम्हे कैसे बतलाऊँ कि तुम्हारे ये प्रहार प्रभा पर नही, सुरेश, केवल सुरेश पर हुए है।

अच्छा, तो जरा ठहर जाओ। मै थोडा स्वस्थ हो लूँ। कुछ दिनों से मै थोड़ी पीने लगा हूँ। हाँ-हाँ भाई इसमे आश्चर्य की क्या बात है।

हाँ, अब कहो, क्या कहते हो ? ज़रा एस० पी० साहब से बात कर लूँ, उनसे कह दूँ कि इस समय मैं उनके यहाँ आ नहीं सकता, ज़रा-सा ठहर जाओ। मुझे सिर्फ़ उस कमरे मे जाना पड़ेगा। बस सिर्फ़ तीन मिनट मे। हाँ बस।

× × ×

आप आ गए। ओह ! मुझे बडी खुशी हुई। हाँ साहब मुझे आप से सिर्फ दो बाते कहनी है। उसके बाद आप जो प्रश्न करेगे, मै उनका उत्तर दे सकूँगा। थोडी देर मै होश मे रह सकता हूँ।

बात यह है कि ये मेरे एक मित्र है। मित्र तो है, किंतु इन्होंने मेरे साथ एक शत्रुता का काम किया है। इनसे मेरी बडी घनिष्ठता रही है। किंतु मै नहीं जानता था कि आह ! आह ! ज़हर ! ज़हर !! बडी शून्यता आ रही है। इसी ने हाँ, इसी ने शरबत मे मिलाकर........।

× × ×

क्या कहा ? उसने.. ...उसने मेरे सब उपहारों को नष्ट कर डाला था, गंगा मे बहा दिया था। ओह ! तुम यह क्या कह रहे हो !. आह ! तब एस० पी० साहब, मेरी बात आप ग़लत समझे। मै गलती पर था। असल मे मैंने ही जहर पी लिया है।.. .. हाँ-हाँ, मैने ही खुद अपने आप खूब समझ-सोचकर।

पागलपन

उन दिनों की बात कह रहा हूँ, जब मोहन दीनानाथ बाबू के यहाँ आया ही था।

सर्दी के दिन थे। भयंकर जाड़ा पड रहा था। पाला इतना अधिक पड़ा था कि सहस्रों बीघे खेती साफ हो गई थी। श्लेष्मा बुरी तरह से घरों मे फैला हुआ था। सैकड़ों बच्चे निमोनिया के मुँह मे समा गये थे। मोहन उन्ही दिनों अपने गाँव से भागकर शहर आया था। तब वह निरा छोकरा था, सिर्फ़ पाँच सात वर्ष का। फटा, मैला, कीचड़ के रंग का, रुई-भरा एक मात्र कोट, चिथड़ों के रूप मे उसके बदन पर इधर-उधर लटक रहा था। सर पर बाल बढ़े हुए थे। जिनसे तेल और मिट्टी की गहरी पुट के कारण दबी हुई दुर्गंध आ रही थी। प्रोफेसर दीनानाथ उन दिनों कालेज मे नियुक्त ही हुए थे। यूनीवर्सिटी की परिधि लाँघ कर उन्होंने अभी हाल ही मे संसार-प्रवेश किया था।

सायंकाल का समय था। कुछ बूँदा-बूँदी भी हो रही थी। दीनानाथ बाबू कुछ कम्बल खरीदने के लिए चाँदनी-चौक आये थे। कम्बल ख़रीद चुकने पर ज्योंही उन्होंने दूकान छोड़ी, त्योंही देखा—अरे! बूँदा-बूँदी होने लगी! झपट कर घर की ओर लौट पडे। चावड़ी-बाज़ार की एक गली मे उनका घर था। वे अभी दूकान से हटकर चावड़ी-बाजार की ओर घूमे ही थे कि मोहन

सामने आ गया और गिडगिडा कर बोला—"बाबू एक पैसा! बडी भूख लगी है। (और वह पेट पर हाथ फेर कर उसके खाली रूप को दिखाने लगा) आज ही गाँव से आया हूँ।"

दीनानाथ बाबू ने यह तो देखा कि एक छोकरा सामने आकर उनकी तीव्र गति के कारण फिर बगल की ओर पड गया, पर, वह यह न सुन सके कि उसने आगे कहा क्या। इधर मोहन ने भी अभी कुछ ही दिनों से माँगना प्रारम्भ किया था। उसने सोचा, ऐसे-ऐसे बाबू लोगों को भी वह छोड देगा, तो फिर उसे और कौन पैसा देगा? वह दीनानाथ बाबू के पीछे हो लिया। वह जैसे-जैसे आगे बढते गये, वैसे-ही-वैसे वह भी उनके पीछे लगा हुआ चलता गया। उसे इस बात का पूरा भरोसा हो गया था कि उसकी मेहनत खाली न जायगी।

इतने मे बाबू साहब का मकान आ गया। बाहरी बैठक मे पहुच कर एक कुर्सी पर वह बैठ गये और झट से नौकर को बुलाने लगे—"अरे धनियाँ, ज़रा इधर तो आना।"

धनियाँ तुरन्त दीनानाथ बाबू के सामने आ खडा हुआ और बाबू साहब ने दोनों कम्बल उसे देकर कहा—"अम्मा को दे आओ।"

(२)

"अरे! तू यहाँ तक पीछा किये हुए चला ही आया!" छोकरे की ओर देखकर दीनानाथ बाबू ने उसके इस दुस्साहस पर ज़रा-सा मुस्करा दिया। उनकी इस मुस्कराहट मे विस्मय था, करुणा थी और उस छोकरे के पीछे पड जाने के इस प्रयास पर कुछ कुतूहल भी था।

मोहन हाथ जोड कर, दीनानाथ बाबू के चमकते हुए जूतों के नीचे का फ़र्श छूते हुए उसे अपने मस्तक पर लगा कर कहने लगा—"बाबू साहब, बडा भूखा हूँ। आज ही अपने गाँव से आया हूँ। एक पैसा!—बस एक पैसा।"

आश्चर्य, दुःख और दया से प्रेरित होकर प्रोफ़ेसर साहब ने पूछा—"आज ही गाँव से आया है! अच्छा तो वहाँ से क्यों आया?"

ये छोकरे गाँवों से भागकर शहरों को क्यों चले आते हैं, क्या बाबू दीनानाथ यह जानते नही? जब पेट मे आग लगती है, और उसको बुझाने लायक तरल पदार्थ उसमे नही पहुँचता, तब वह चंचलता जो मनुष्य जीवन की प्राण है, विद्रोह कर बैठती है। गाँव उजड रहे है और शहर बस रहे है, क्यों? क्यों कि गाँवों के ग़रीब किसान और उनके बच्चे पनप नही पाते। शहर मे आकर उनकी आँखे खुल जाती है। मज़दूरी करके वे किसी तरह पेट-भर भोजन तो पा जाते है। इसके सिवा अवकाश के समय मे इधर-उधर घूमते फिरते हैं—तमाशा देखते है।

हाँ साहब, तो दीनानाथ बाबू के प्रश्न से मोहन को कुछ संतोष हुआ। उसके मन मे आया, बस अब काम बन गया। उत्साहित होकर उसने कहा—"जी, माँ बाप नही है। मैंने उन्हे देखा भी नही। गाँव मे जहाँ-तहाँ माँग-मूँग कर पेट भर लेता था, कभी-कभी वही कुछ काम मिल जाता, तो उसे कर देता था। पर, इधर उससे पेट नही भरता। इसीलिए, यहाँ चला आया हूँ।"

"तो तूने अभी तक कुछ खाया नहीं है?"

"जी, खाया क्यों नहीं! सुबह के वक्त पाँच पैसे पा गया

था। चार पैसे की पाव भर जलेबी ली, एक पैसे की लैया। फिर इधर-उधर तमाशा देखता रहा। अब भूख लग आई, तो फिर माँगने लगा।"

"तेरी जाति क्या है ?"

"जी, मै जाति का जाट हूँ, जाट।"

"खाना तो मै तुझे अभी खिलाए देता हूँ। पर 'हाँ, यह तो बता कि गाँव से आया कब था ?"

"जी, मै कल आया था।"

"सोया कहाँ रात को ?"

"जी, एक 'धरमशाला' के आगे पड़ा रहा, एक साधु की धूनी की गरम आँच के पास।"

"साधु की धूनी के पास ! और जो वह न होता तो !"

"तब फिर देखा जाता। भगवान जैसे रक्खेगे, वैसे ही तो रहना पड़ेगा।"

दीनानाथ मोहन के मुख की ओर ध्यान से देखने लगा।

(३)

अब मोहन दीनानाथ बाबू के पास रहने लगा है।

गर्मियों के दिन है। दीनानाथ बाबू अपने मकान पर, कानपुर जिले के एक गाँव मे, आये हुए है। साथ मे उनका परिवार भी है।

बागों मे आम और जामुन के पेड़ लदे पडे है। बड़े-बड़े कलमी आमों के बोझ से लदी हुई डालियाँ जमीन की ओर इतनी

झुक गई है कि खड़े-ही-खड़े, पके या गदराने जैसे भी चाहो, आम तोड़ लो।

दीनानाथ बाबू के पिता बड़े शौकीन आदमी थे। उन्होंने फलों के पेड़ों, फूलों और तरकारियों के लिए अलग-अलग बाग लगवा रखे थे। उनका प्रबन्ध जैसा इन बागों की रखवाली का तब था, वैसा ही अब भी चला आता है। ये बाग उनके मकान से बिलकुल लगे हुए हैं।

दीनानाथ बाबू की लड़की राधा इन बागों मे घूमने आई है। वह दस वर्ष की है। गाँव की कन्या पाठशाला मे वह पढ़ती है। सायंकाल वह इन बागों की सैर करने को प्रायः नित्य आती है। वैसे तो मोहन सदा काम मे लगा रहता है। काम न भी हो, तो भी घर पर उसका उपस्थित रहना तो आवश्यक ही है। फिर भी, जब कभी उसे समय मिलता है, वह भी इन बागों मे घूमने चला आता है। संयोग से आज मोहन भी चला आया है। और इन दोनों के साथ एक मजदूर और भी आया है। मोहन और राधा जो आम पसन्द करेंगे, मजदूर उन्ही को तोड-तोड़ कर डलिया मे डालता जायगा। ऐसा ही तय कर रखा गया है।

मोहन अवस्था मे राधा से दो वर्ष बड़ा है। इसलिए वह उसे नाम लेकर पुकारता है। जब वह आया था, तब राधा उससे बोलने मे सकुचाती थी। धीरे-धीरे जब उसकी शरम खुली, तो वह मोहन से "भैया" कहने लगी। भाई-बहन का यह नाता तब से बराबर चल रहा है।

आम के एक पेड की डालियाँ बिलकुल झुकी हुई है। इस पेड का नाम दोनों ने सोच-समझ कर नाटू रखा है। उसका नाटा कद

है, नाम भी उसका नाटू ही ठीक भी है। हॉ, तो इसी नाटू की एक डाली पर राधा उछल कर चढ गई है। मोहन भी पास के एक दूसरे पेड के निकट खडा हुआ उसके पके, पीले और लाली लिये हुए आमों की बहार देख रहा है।

एक पके आम को राधा तोडकर खाने लगी। वह बडा मीठा निकला। उसकी इच्छा हुई कि थोडा-सा मोहन को भी चखाया जाय। बोली—मोहन भैया, अरे ओ मोहन भैया! अरे कहॉ चले गये?

मोहन जब से इस परिवार मे आया है, तब से वह एक दम से बदल गया है। कोयल, मैना, उल्लू, बिल्ली, सियार, गदहा तथा कुत्ता आदि पशु-पक्षियों की बोली बोल-बोल कर वह इस परिवार के लोगों को सदा हँसाया करता है। वह बड़ा चिलबिला है। कभी कभी काम करते-करते बीच मे उपर्युक्त बोलियॉ बोल कर राधा की मॉ को, जिन्हे वह खुद भी 'अम्मा' कहता है, यकायक चौंका दिया करता है।

हॉ तो मोहन वही से बोल उठा—"एँ-एँ।"

भेड़ की बोली वह इसी प्रकार बोलता है। फिर वह दौड़ पड़ा और चट से राधा के निकट जा पहुचा।

राधा एक आम को चाकू से तराश कर खा रही थी। चट-खारे लेते हुए बोली—सच कहती हूँ, भैया, बडा मीठा है। बस, ऐसा जान पड़ता है, जैसे मिश्री की चाशनी मिला दी गई हो। यह लो, ज़रा चखकर देखो।

उसी आम मे से एक बड़ी दलदार फॉक उसने मोहन को दे दी।

आम की उस फाँक को लेकर मोहन भी एक दूसरी डाल पर बैठ गया और खाने लगा। और भी दो आम तोड़े गये और दोनों ने एक दूसरे को अपने-अपने आमों का भाग देकर खाया। आम खा चुकने पर फिर उसी तरह के आम तुड़वा कर मजदूर के हवाले किए गए।

अब जामुन खाने की बारी आई।

यह बाग जाड़ों, गर्मी और बरसात तीनों फसलों मे अपने अतिथियों का स्वागत किया करता है। गर्मी और बरसात मे इसमे आम और जामुन रहते हैं और जाड़ों मे अमरूद। लगाया भी वह इसी कायदे के साथ गया है। एक कतार आम की, फिर एक कतार जामुन की, और फिर अमरूद की। हाँ, तो जरा हटने की देर थी कि राधा और मोहन, दोनों जामुन के निकट आ पहुँचे।

मोहन तो ठहरा नटखट लड़का। झट से चढ़ गया जामुन के पेड़ पर। कुछ पके जामुन तोड़ तोड़कर वह एक थैले में भरने लगा।

राधा से रहा न गया। वह बोली—"देखो भैया, डाल पकड़ कर उसे झकझोर तो दो एक बार। पके जामुन झट गिर पड़ेंगे। इस तरह मै भी नीचे गिरे हुए जामुन खा सकूँगी, तुम तो ऊपर उड़ा ही रहे हो।"

वैसे मोहन खुद भी ऐसा सोच सकता था। पर उसने ऐसा करना इसलिए ठीक नहीं समझा कि पके हुए जामुन जब जमीन पर गिरते है, तो वे बुरी तरह घायल हो जाते है और उनमे मिट्टी भर जाती है।

मोहन ने कहा—"जरा ठहर जाओ, राधा, मै अभी थैला भर कर उसे नीचे पहुँचाए देता हूँ।"

राधा बोली—"नहीं, मै तब तक ठहर नहीं सकती। तुम जो कहते हो, वह है तो बिलकुल ठीक बात, लेकिन मुझ मे इतना धैर्य हो तब न! वैसे चाहे हो भी जाता, पर तुम खुद भी तो कभी-कभी एक आध जामुन खा लेते हो। ना भाई, मुझ मे सहन न होगा।"

मोहन ने सच पूछो तो एक ही जामुन खाया था। उसने देखा, राधा ऐसा नही चाहती, तो उसने खुद भी खाना बन्द कर दिया। बोला—"डाली हिला देने से कच्चे और अधपके जामुनों के गुच्छे भी नीचे आ जायँगे, इसीलिए इन्हे गिराता नही हूँ। और जो कहती हो कि मै खुद खाता हूँ, सो मै भी तब तक न खाऊँगा जब तक थैले को भर कर नीचे न आ जाऊँगा।"

राधा ने पहले तो कह दिया। पर जब उसने मोहन का उत्तर पाया, तब वह अपनी बात पर आप ही सकुचा गई—अरे! मैंने यह कैसी बात कह दी। मोहन भैया उतने ऊँचे पर चढ़ कर जामुन तोड रहे हैं। अगर वे कुछ खा ही लेते है, तो क्या बुरा करते हैं।"

"यह लो, थैला भी भर गया। अब मै उतरा आता हूँ।"

मोहन नीचे उतर आया, थैला राधा की ओर करके बोला—"चलो, वहाँ बेंच पडी है, वहीं बैठ कर खायँगे।"

बेंच पर बैठकर मोहन जब राधा को जामुन देने लगा तो उसने कहा—"मै नही खाऊँगी। इच्छा नहीं है।"

मोहन बोला—"ऐ! खाओगी क्यों नहीं? तो, इतने ऊँचे पेड पर चढ कर मैने इन्हे तोडा किस लिए है? न खाओगी तो मैं इन्हे कुएँ मे फेक दूँगा। खाना दूर रहा, मै इन्हे छुऊँगा भी नही। अच्छा बोलो, मेरी किस बात से तुम इस तरह रूठ गई हो?"

राधा चुप थी। वह कुछ उत्तर देना चाहती थी। वह पूछना चाहती थी कि मैने तुमसे कहा कि तुम अकेले-अकेले खा रहे हो, सो तुमने इसका कुछ बुरा तो नहीं माना। एक सीधी-सी बात थी—कितनी भोली और कैसी कोमल! पर वह इसे न कह सकी।

तब मोहन ने जोर से कहा—"बोलो, खाओगी या मै इन्हे कुएँ मे फेक दूँ?"

राधा ने आँखों मे आँसू भर लिये। मुरझाए हुए मुख से उसने कहा—"तो तुम मेरे कहने का बुरा क्यों मानते हो?"

मोहन बोला—"मैंने कुछ भी बुरा नही माना। बुरा मानने की इसमे बात ही क्या थी? तुम भी राधा इतनी पगली हो कि जरा-जरा सी बातों मे अपने मन से कुछ-का-कुछ समझ कर इतनी उदास हो उठती हो! यह लो, खाओ जामुन!"

बेंच पर बैठ कर दोनों जामुन खाने लगे।

(४)

गर्मी के दिन है। राधा को चेचक ने बुरी तरह से व्यथित-विपन्न कर रखा है। उसका सारा बदन एक-एक अँगुल बडी फुंसियों से बुरी तरह जल-सा गया है। मोहन रात-दिन राधा की परिचर्या मे रहता है। वह उसकी फुंसियों का मवाद धोता है, उसे नहलाता है, उसकी धोती धोता है। इसके सिवा दिन-रात वह उस पर पंखा झला करता है। दीनानाथ बाबू और उसकी धर्मपत्नी उसकी इस सेवा से बहुत प्रसन्न है। सेवा-कार्य मे मोहन की अन्तरात्मा कितनी उज्ज्वल है, कितनी उच्च, यह जानने का उन्हे यह एक अच्छा अवसर मिला है।

एक दिन राधा की माँ ने कह भी डाला। बोली—"मोहन,

मै तो राधा की माँ हूँ, उसे मैने तो अपनी कोख से पैदा किया है, लेकिन इतनी सेवा तो मुझ से भी नहीं हो सकती ! तू इतना निकट का सहोदर भाई न होते हुए भी जी-जान से उसकी सेवा मे ऐसा तत्पर रहता है। मै दिन-रात यही सोचती रहती हूँ कि तू उसका भाई होकर ही जैसे हम लोगों को आ मिला है।"

मोहन बोला—"माँ, सहोदर होने से ही कोई भाई थोड़े ही हो जाता है ! भाई और बहिन का पवित्र नाता तो हमारी आत्मा के भीतर से उमड कर पैदा होता है।"

राधा की माँ सोचने लगी—इस समय यह कैसी ऊँची बात इसने कह दी। सचमुच यह बडा समझदार लडका है।

उस दिन रात को तीसरे पहर तक बराबर बड़ी उमस रही। एक तो अत्यधिक गर्मी के कारण यों ही बेचैनी कम न थी, दूसरे फुंसियों मे जलन होने के कारण राधा और भी विकल हो रही थी। राधा की माँ और दीनानाथ बाबू को नींद आ गई थी। रात भी अधिक बीत गई थी। मोहन अब भी राधा पर पंखा झल रहा था। राधा बोली—"अब तुम भी सोओ भैया, रात ज्यादा हुई। तुम्हारे हाथों मे दर्द होने लगा होगा।"

मोहन बोला—"तुम बेचैनी से कराहती हो और मै सोऊँ ! यह कैसे हो सकता है ?"

राधा की आँखों मे आँसू छलछला आये।

राधा अब वैसी अबोध न थी। उसने तेरह वर्ष की होकर चौदहवें मे पदार्पण किया था। सरल नव-यौवन की स्वाभाविक हिलोरे उसके विमल मानस में भी कभी-कभी तरंगित हो उठती थीं। इधर मोहन की इस सेवा ने उसके हृदय मे घोंसला बना लिया था।

राधा बोली—"तुम्हे क्या हो गया है, मोहन भैया ?"

"कुछ भी नहीं" कहकर वह कुछ मर्माहत-सा हो उठा।

एक ठंडी, हाहाकारमय निःश्वास लेकर राधा बोली—अब तो यही इच्छा होती है, मोहन भैया, कि बस मृत्यु की गोद मे समा जाऊँ।

राधा अभी तो यौवन के नन्दन-वन मे प्रवेश ही कर पायी थी ! जीवन की अमृतमयी, प्राणमयी, प्रलय पवन, रजनीगंधा का तरंगित समीरण और वासंती-लता का आलोडन-उत्पीडन अभी उसकी अनुभूति के बालापन से आँक ही कहाँ पाया था। फिर भी मानवी आत्मा के अन्तरतम मे समुस्थित होने वाली भावनाएँ अपने मृदुलस्पर्श से कभी-कभी उसे, एक छोर से दूसरे छोर तक झकझोर ही जाती थी। वह सोचने लगती—"अब ! अब इस श्रीहीन शरीर का होगा क्या ?"

मोहन ने उत्तर दिया—"इतनी निराश क्यों होती हो राधा ?"

राधा आँसू टपकाते हुए बोली—"तुम ! तुम क्या जानो कि मै क्यों ऐसा चाहती हूँ !"

मोहन कहने लगा—"इस स्थल पर तुम भूलती हो राधा ! क्या अपने भीतर की बाते सदा कहने से ही प्रकट होती है !"

राधा सिसक-सिसक कर रोती रही।

(५)

राधा अब नेत्र-हीना थी।

दीनानाथ बाबू और राधा की माँ के जीवन का चरम सुख राधा मे ही अंतर्हित था ! यद्यपि उनके और भी संतानें हुई थी,

पर वे जीवन न पा सकी थीं। वे हँसती खेलती हुई, एक झाँकी-सी दिखाकर अन्तर्धान हो गईं थीं। केवल राधा ही उनकी आशा की वेलि, आँखों की ज्योति, हृदय की प्रतिमा और जीवन की निधि के रूप मे बच रही थी। और वह राधा भी जो कभी रूप मे चन्द्र-कला, कोमलता मे मल्लिका, वाणी मे प्रियम्वदा और सरलता मे मृग-छौनी जैसी रही होगी, अब नेत्र-हीना थी।

दिन बीत रहे थे।

मोहन राधा के निकट ही बना रहता। क्योंकि जब राधा अकेली रहती, उसे बडा कष्ट होता। जब कोई उसके पास बैठकर उससे बातें किया करता, तब वह अपने जीवन के भविष्य की कल्पनाएँ भूली रहा करती थी। बातचीत में उसका जी उलझा रहता था। और जब वह अकेली होने को होती, तो मोहन उसके पास पहुँच जाता। वह उसे पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित नई-नई कविताएँ सुनाया करता। एक-एक अक्षर सीखते-सीखते अपने जीवन के इन आठ वर्षों मे उसने इतना अभ्यास कर लिया था।

एक दिन राधा बहुत प्रसन्न देख पडी। उत्साह से उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। वह बोली—"मोहन, मोटे सफेद कागज की एक कापी ले आओ और पेंसिल लेकर यहाँ बैठो तो। मै कुछ बोलूँगी, तुम लिखते जाना।"

कापी और पेंसिल लाकर मोहन निकट बैठते हुए बोला—"हाँ राधा, ले आया। बोलो, मै लिखता हूँ।"

राधा बोलने लगी—

"टूटे तार हृदय वीणा के,
नाद नही, झंकार नही।

प्रतिध्वनि नहीं, प्रेम प्रतिदानों,
की प्यारी मनुहार नहीं ॥"

राधा और भी आगे लिखाती गई। मोहन जब लिख चुका, तो इस पद्य को झूम-झूम कर गाने लगा।

राधा बोली—मोहन, तुमने यह गाना कहाँ से सीखा ? इस से पहले तो कभी मैंने तुमको गाते हुए देखा-सुना नहीं।

मोहन ने उत्तर दिया—"और इससे पहले राधा को भी तो मैंने कभी कविता लिखते नहीं देखा।"

राधा के हृदय में एक गहरी चोट-सी जा लगी। वह बोली—"मोहन, तुमको हो क्या गया है ?"

मोहन ने कहा—"राधा, यह प्रश्न तो अब पुराना पड़ गया है !"

राधा अवाक् होकर देर तक कुछ सोचती रही।

दूसरे दिन की बात है।

राधा बोली—"आखिर, तुम चाहते क्या हो मोहन ?"

राधा की आत्मा आज सजग थी। उसके शब्दों मे ओज था, वाणी मे आवेग। उसके जलते हुए शब्दों से लपटे-सी निकल रही थी। मोहन पहले तो चुप ही रहा। आखिर वह कहता ही क्या ? राधा के इस प्रश्न ने, विशेष रूप से उसकी 'टोन' ने उसकी आत्मा को हिला दिया था। मानवी आत्मा की दुर्बलता मे प्राण नहीं होता, एक झटके-मात्र से वह काँप उठती है। सो मोहन के मन का चोर भी जी चुरा रहा था।

राधा बोली—"बोलो, अब उत्तर क्यों नहीं देते ?"

मोहन को कहना पड़ा—"मैं जो कुछ चाहता हूँ, वह क्या

तुमसे छिप सका है ?"

राधा बोली—"तो यही ठीक है न कि तुम मुझे चाहते हो ? मुझे प्यार करते हो ?

मोहन चुप रहा।

और उसका मौन ही उसकी 'हाँ' थी।

"लेकिन अगर तुम बुरा न मानो, तो एक बात कहूँ।" राधा बोली।

"कहो !" मोहन ने उत्तर दिया।

राधा—"अगर तुम मुझे चाहते हो, मेरे सच्चे-प्रेमी हो, तो अपनी आत्मा की मलिनता को अपने मे से निकाल कर फेंक दो। मुझे देखो, मुझ पर दया करो, क्योंकि मै एक दुखिया नारी हूँ। वे अन्तर्यामी बडे समर्थ है, उन परम पिता की लीला विचित्र है। उन्होंने हमारे भीतर परम प्रकाश भर दिया है। मै उसी के पीछे-पीछे चलना चाहती हूँ। तुम, मेरे भाई, मेरे प्यारे, अगर मुझे चाहते हो, तो तुम भी मेरे पीछे-पीछे क्यों नहीं चले चलते ! दुर्बलताएँ मुझ मे भी है। मै भी कभी-कभी मार्ग से भटक जाती हूँ; क्योंकि आख़िर हूँ तो मै अँधी ही। पर, तुम दोनों आँखों को ज्योतिर्मय रखते हुए भी पीछे मे पुकार कर क्यों नहीं कह देते कि उस मार्ग मे कंटक है—गर्त है। उधर न चलो। परन्तु हाय ! तुम तो सन्मार्ग सुझाने के स्थान पर मेरा अँधानुकरण करते हो ! तुम तो मेरे पीछे-पीछे ख़ुद भी पतन के गर्त मे गिरना चाहते हो ! कैसे तुम प्रेमी हो ! न मुझे बचाते हो—न अपने आपको !"

मोहन को जैसे काले साँप ने काट खाया हो !

राधा कहती ही गई—"फिर, मै तुम्हे भैया कहती आई हूँ !

तुमने अनेक बार बहन के नाते अपने भाल पर मुझ से रोरी लगवाई है और मैंने तुम्हारे राखी बाँधी है। छिः तुम्हारा यह पतन! तुमने बहन के प्यार की पवित्रता को अपने हृदय की दुर्बलता के हाथ बेच दिया! तुमने यह क्या किया मोहन?"

मोहन राधा के पैरों पर गिर कर रोता रहा।

(६)

कई वर्ष बीत गये।

अब न दीनानाथ बाबू है न उनकी धर्मपत्नी। बाल-ब्रह्मचारिणी, वृद्धा और अँधी राधा रह गई है और उसका बूढ़ा भाई मोहन। दीनानाथ बाबू मरने के पहले अपनी सम्पत्ति के भावी उपयोग के लिए एक ट्रस्ट बना गये थे। 'वसीयत नामे' के अनुसार ये दोनों प्राणी निर्वाह-मात्र के लिए पचास रुपये मासिक पाते हैं। बाकी आय अंधों के विद्यालय के काम आती है। राधा स्वयं भी इस विद्यालय के छोटे-छोटे बच्चों को पढ़ाया करती है—

मोहन अब भी कभी-कभी गाया करता है—

"टूटे तार हृदय-वीणा के, नाद नहीं, झंकार नहीं।
प्रति-ध्वनि नहीं, प्रेम-प्रतिदानों, की प्यारी मनुहार नहीं॥"

कोमल स्वरों के साथ जब उसके भीतर का अवसाद आकर मिल जाता है, तभी वह श्वेत-केशी राधा पोपले मुँह से कह उठती है—देखती हूँ मोहन, तुम्हारा पागलपन अभी तक नहीं गया है। इस पर मोहन का गान रुक जाता है, उसके चेहरे की झुर्रियों पर लाली की एक क्षणिक रेखा चमक कर मिट जाती है और वह फीकी हँसी हँसकर कहता—राधा ठीक कहती है।

—❀—